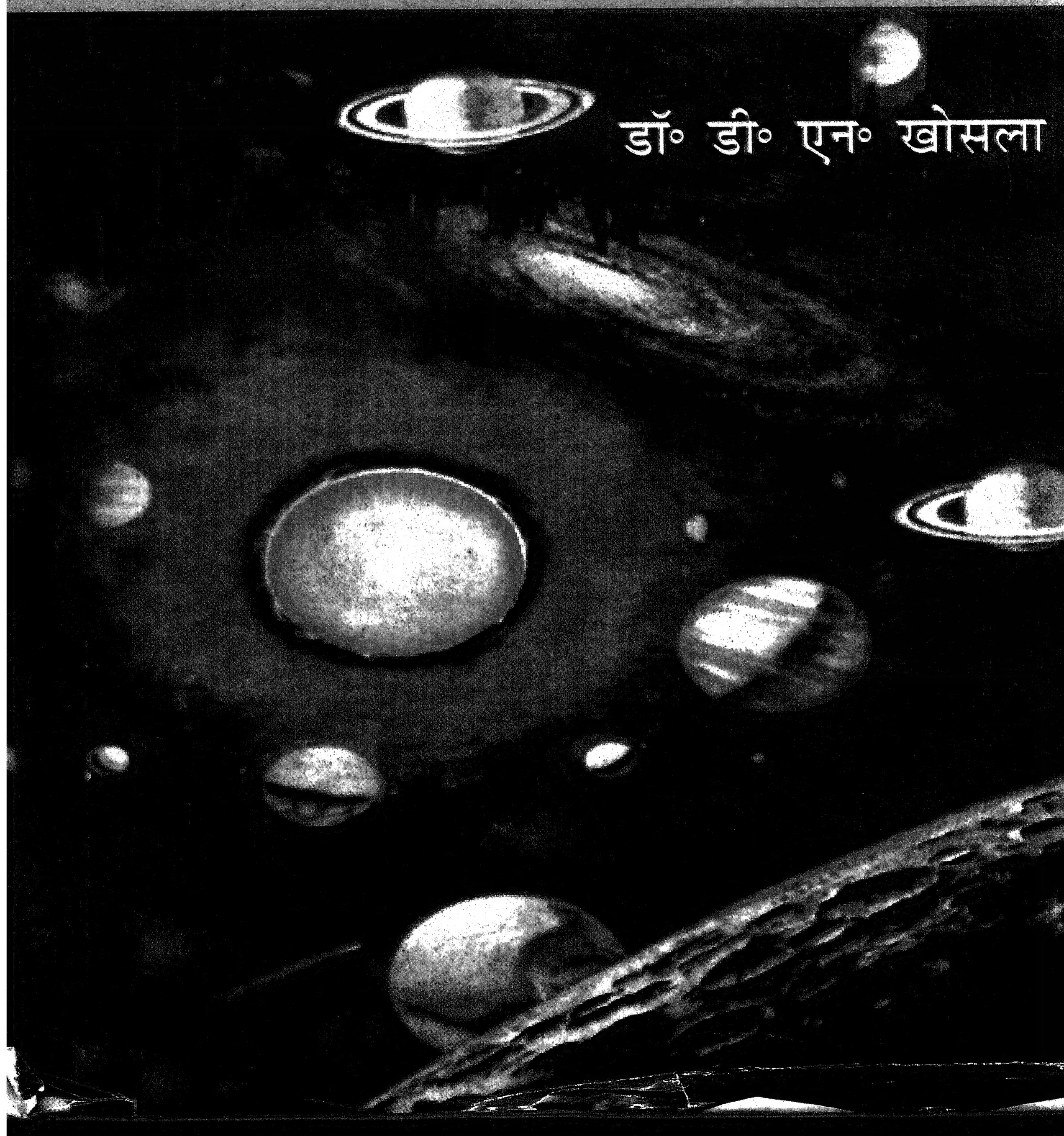
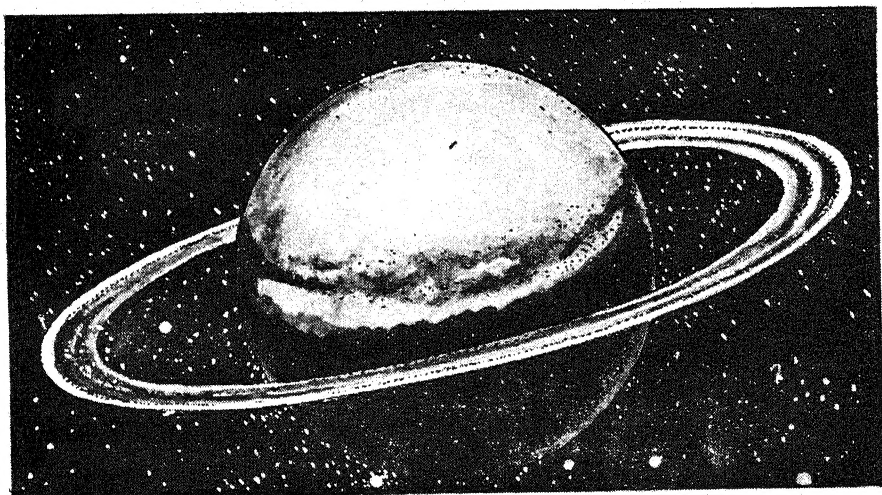
क्या, क्यों, कैसे

ग्रहों व सितारों का संसार



डॉ॰ डी॰ एन॰ खोसला

ग्रहों व सितारों का संसार



क्या, क्यों, कैसे

ग्रहों व सितारों का संसार

डॉ॰ डी॰ एन॰ खोसला

शब्द शिल्पी, दिल्ली-110032

"राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान
कोलकाता के सौजन्य से"

सर्वाधिकार : सुरक्षित

प्रकाशक : **शब्द शिल्पी**
ई-54, प्रथम तल, मानसरोवर पार्क
शाहदरा, दिल्ली-110032

संस्करण : 2001

मूल्य : 150.00

आवरण : मॉर्डन ग्राफिक्स, दिल्ली

मुद्रक : सनराइज आफसेट, दिल्ली-110032

लेखक परिचय

डॉ॰ द्वारिकानाथ खोसला एक बहुविज्ञ लेखक, सम्पादक एवं व्याख्याता हैं। इन्होंने शिक्षा के अनेक क्षेत्रों में सक्षमता प्राप्त की तथा लगभग तीन दशकों तक राष्ट्रीय शिक्षा अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के शिक्षक, शिक्षा विभाग तथा पत्रिका प्रकोष्ठ में शिक्षक प्रशिक्षण में नवाचार संजोने तथा शैक्षिक पत्रकारिता के विकास में महत्वपूर्ण सेवा कर फरवरी, 1993 में अध्यक्ष, पत्रिका प्रकोष्ठ के पद से सेवानिवृत्ति सम्पन्न की। अपने सेवा काल में परिषद् की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की छः शैक्षिक पत्रिकाओं का सक्रिय अकादमिक संपादन करने के अतिरिक्त शिक्षक प्रशिक्षण एवं शैक्षिक पत्रकारिता, शिक्षादर्शन आदि की विविध रचनाओं व लेखों का सृजन किया तथा शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्र निर्माण हेतु सराहनीय योगदान दिया।

सेवानिवृत्ति पश्चात् भी उनकी कार्यप्रणाली तथा क्षमता पूर्ववत सक्रिय है। उन्होंने राष्ट्रीय शैक्षिक नियोजन तथा प्रशासन संस्थान की एक दर्जन से अधिक कृतियों का सम्पादन किया और राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् की नाना कृतियों के सम्पादन के अतिरिक्त परिषद् की पत्रिका 'दि इंडियन जनरल ऑफ टीचर एजूकेशन' के सम्पादन के कार्य को संभाला। शिक्षादर्शन व योग विद्या में भी वे सराहनीय रुचि रखते हैं तथा 'योगमंजरी' नामक पत्रिका के सम्पादक हैं। शिशु शिक्षा एवं विज्ञान के प्रति भी उनकी अभिरुचि व सक्षमता कुछ कम नहीं। इन क्षेत्रों में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह कृति भी इसी प्रक्रम की एक कड़ी है। संक्षेप में, इस कृति के सृजनकर्ता एक बहुआयामी व्यक्तित्व के परिचायक हैं।

दो शब्द

मानवीय जिज्ञासा और ज्ञान-पिपासा का कोई अंत नहीं। अपनी अनबुझ ज्ञान-पिपासा के कारण ही मनुष्य आज ज्ञान-विज्ञान के शिखर तक जा पहुंचा है।

ग्रह और सितारे हमेशा से मनुष्य की जिज्ञासा के केंद्रबिंदु रहे हैं। विश्व के सभी देशों के लोग सदा से ही सितारों को जानने-पहचानने में रुचि लेते रहे हैं। यह कहना कि मनुष्य ने गर्दन उठा आकाश की ओर देखने मात्र से ही असंख्य सितारों, मंदाकिनियों और अंतरिक्ष के कल्पनातीत विस्तार के बारे में सब कुछ जान लिया अतिशयोक्ति होगी।

मनुष्य हजारों वर्षों तक सितारों को देख विस्मित और आश्चर्यचकित होता रहा है तथा इनके बारे में अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्ति हेतु उसने न केवल अपनी अनुभवी आंखों का प्रयोग किया बल्कि नाना प्रकार के यंत्रों जैसे दूरबीन, खुर्दबीन तथा गणित व खगोल शास्त्र से भी सहायता बटोर महत्वपूर्ण तथ्य एकत्रित किए हैं।

इस पुस्तक में पाठकों को आकाश, ग्रहों, सितारों व ब्रह्मांड के आश्चर्यजनक तथ्यों की जानकारी मिली। प्राचीन और आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा इस क्षेत्र में अर्जित की गई उपलब्धियों का परिचय प्राप्त होगा।

विज्ञान के विद्यार्थियों, अध्यापकों और अध्यापक प्रशिक्षकों के लिए एक आवश्यक पुस्तक।

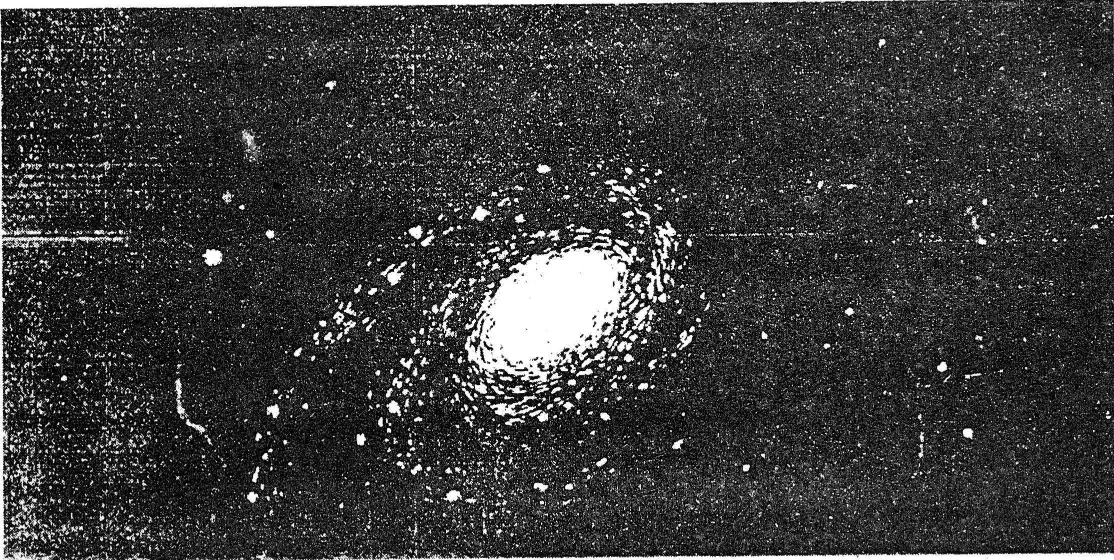
—डॉ. डी. एन. खोसला

अनुक्रम

ब्रह्माण्ड	9
आकाश	11
आकाशगंगा	13
तारापुंज	15
सितारे	16
राशि-चक्र	21
वर्णक्रम	25
प्रकाश	28
पराबैंगनी किरणें	32
ओज़ोन परत	35
सूर्य-कलंक	38
उत्तर ध्रुवीय प्रकाश	39
नीहारिका	41
धूमकेतु	43
उल्का	46
उड़न तश्तरी	48
रेडियो खगोल विज्ञान	49
षष्ठक	52
कृत्रिम उपग्रह	55
सूर्य सरंचना	58
सौरमण्डल	62
पृथ्वी का वायुमण्डल	74
पृथ्वी संरचना	77
ऋतु संरचना	81
चन्द्रमा का वायुमण्डल	88
ग्रहण प्रक्रिया	92

ब्रह्माण्ड

ब्रह्माण्ड की विशालता का अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन है। इसकी परिसीमा मानव परिकल्पना की परिधि से कहीं दूर है। हम न तो इसकी विशालता को ही जानते हैं और न ही इस विषय में स्पष्ट रूप से कुछ कह ही सकते हैं। इसे जानने के लिए हमें पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य प्रक्रमों, ग्रहों आदि की ओर भी ध्यान देना होगा।



ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के विषय में दो प्रमुख परिकल्पनाएं प्रस्तुत की गई हैं। एक है 'स्टैडी स्टेट थ्यूरी' अथवा स्थायी स्थिति प्रत्ययः जिसके अनुसार ब्रह्माण्ड सदैव से अपनी स्थायी स्थिति में विद्यमान है। इसका न ही कोई आदि और न ही कोई अंत है। इसका घनत्व भी निरन्तर एक समान अनुमान बनाए रखता है। दूसरी परिकल्पना को 'बिग बैग थ्यूरी' की संज्ञा दी जाती है जिसके अनुसार निश्चित अतीत में पदार्थ तथा शक्ति के समूह का अत्यधिक घनत्व होने से विस्फोट के कारण ब्रह्माण्ड तथा अन्य ग्रहों, उपग्रहों, आकाशगंगाओं आदि की उत्पत्ति हुई। अतः इसकी व्यापकता की टोह लेना चिरकाल से एक मुख्य प्रश्न बना हुआ है।

पृथ्वी तो सौर परिवार का ही एक अल्प-सा अंग है। सौरमंडल में सूर्य तथा इसके इर्द-गिर्द घूमने वाले ग्रह व उपग्रह समूह, अन्य छोटे बड़े पिण्ड, तारामंडल तथा उल्का सम्मिलित हैं।

यह समस्त सौर परिवार सम्भवतः किसी अन्य परिवार का एक अल्प-सा भाग प्रतीत होता है। इस अत्यधिक विशाल परिवार को विशाल गंगा अथवा ग्रेट ग्लैक्सी की संज्ञा दी जाती है।

चिरकाल तक इसी धारणा से प्रभावित रहे। ईसा से छठी शताब्दी पूर्व पाईथागोरस (Pythagorus) ने यद्यपि पृथ्वी के गोलाकार होने का सुझाव दिया, फिर भी वह पृथ्वी को स्थिर व ब्रह्माण्ड का केन्द्र ही मानता रहा। दूसरी शताब्दी ए॰ डी॰ में तो टोलेमी (Ptolemy) ने सिद्ध करने का प्रयास किया कि किस प्रकार सभी ग्रह, सूर्य, चांद आदि पृथ्वी का चक्कर काटते हैं तथा कई शताब्दियों तक इसी विचार का बोल-बाला रहा।

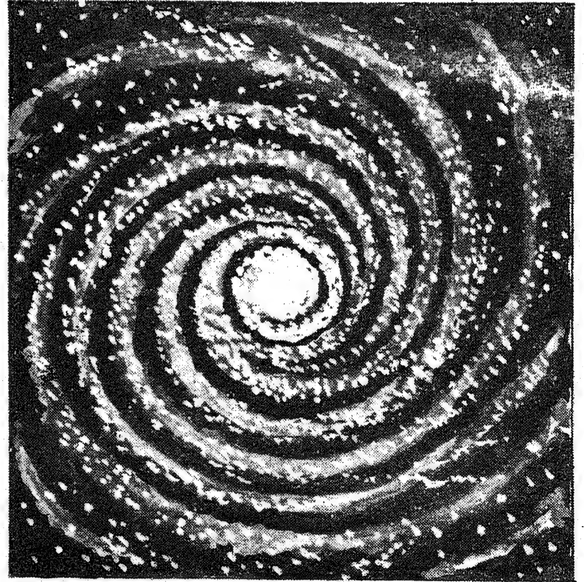
इसके विपरीत यद्यपि अरिस्टार्कस (Aristarchus) ने ईसा से तीसरी शताब्दी पूर्व विचार व्यक्त किया कि गोलाकार पृथ्वी अपने अक्ष पर घूर्णन और स्थिर सूर्य के इर्द-गिर्द परिक्रमा करती है, फिर भी इस विचार को तभी स्वीकारा गया जब 1543 में कोपरनिकस (Copernicus) ने सिद्ध किग कि सूर्य, न कि पृथ्वी, ही सौरमण्डल का केन्द्र है। अतः यह खोज निरन्तर जारी है कि सौरमण्डल, ब्रह्माण्ड व आकाश की व्यापकता एवं संरचना कैसी है तथा विषय के महत्त्व अनुरूप यह प्रयास अनंत काल तक निरन्तर जारी रहना स्वाभाविक भी है।

आकाशगंगा

आकाशगंगा (मिल्की-वे अथवा गैलेक्सी) आकाश में स्थित असंख्य झिलमिल तारों से सुसज्जित तारा-समूह है जो उत्तरी आकाश में क्षितिज से क्षितिज तक फैला हुआ है। इसका वृत्त दक्षिणी आकाश में जाकर समाप्त होता है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर इसकी चमक भिन्न-भिन्न प्रकार से रहती है क्योंकि यह मुख्य रूप से सितारों की दूरी तथा उनके आकार पर निर्भर करती है। आकाशगंगा में सितारों की संख्या लगभग तीन खरब है, परन्तु खुली आंख द्वारा एक बार केवल छः हजार तारे ही दिखाई देते हैं।

आकाशगंगा एक गोल एवं चपटी घड़ी के फीते के समान है जिसका किनारा चारों ओर गोलाकार-सा दिखाई देता है। इस वक्राकार में असंख्य सितारे हैं। सूर्य भी साधारण तारों की भांति आकाशगंगा की एक भुजा पर ही स्थित है। सूर्य आकाशगंगा के केन्द्रक से लगभग 36 हज़ार प्रकाश-वर्ष की दूरी पर स्थित है तथा यह इस केन्द्रक के इर्द-गिर्द 25 करोड़ वर्षों में एक परिक्रमा पूरी करता है। आकाशगंगा भी अपने केन्द्रीय अक्ष पर पहिए के समान घूमती रहती है तथा यह अपना एक चक्र लगभग 20 करोड़ वर्षों में पूरा करती है। इसी प्रकार असंख्य सितारे भी इस केन्द्रक के चारों ओर चक्र लगा रहे हैं।

अनन्य आश्चर्यजनक प्राकृतिक दृश्यों की भांति आकाशगंगा एक अद्वितीय दृश्य प्रस्तुत करती है। यह आकाश में एक अत्यन्त सुन्दर हीरों से जड़ी माला के समान दिखाई देती है तथा इसकी सुन्दरता देखते ही बनती है। इसके रहस्यमय अस्तित्व के साथ कई आश्चर्यजनक कथाएं भी जुड़ी हुई हैं। पौराणिक कथाओं में तो इसे एक ऐसे मार्ग की संज्ञा दी जाती है जहां से देवदूत स्वर्ग की ओर यात्रा करते हैं।



मिल्की वे या आकाशगंगा

आकाशगंगा में सबसे छोटा समूह दो तारों का है, जिसे युग्म तारा कहा जाता है। वस्तुतः आकाशगंगा में आधे से भी अधिक तारे सूर्य से भी कहीं बड़े आकार के हैं। कुछ तो तीन, चार, पांच, छः, सात आदि तारों के

समूह के रूप में भी दिखाई पड़ते हैं।

सूर्यमण्डल की आकाशगंगा के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड में अनेक, लाखों करोड़ों की संख्या में, अन्य आकाशगंगाएं विद्यमान हैं।

मौलिक रूप से तीन प्रकार की आकाशगंगाएं हैं। सौर परिवार की आकाशगंगा की भांति छल्ले या कुन्डलीदार आकाशगंगाएं; दीर्घवृत्ताकार आकाशगंगाएं; तथा अनियमित आकाशगंगाएं जिनका कोई विशेष आकार नहीं होता तथा जिनमें प्रायः तारे, धूल तथा गैस ही विद्यमान होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ लघु व नाटी आकाशगंगाएं भी होती हैं जिनकी संख्या अन्य प्रकार की आकाशगंगाओं से अधिक है।

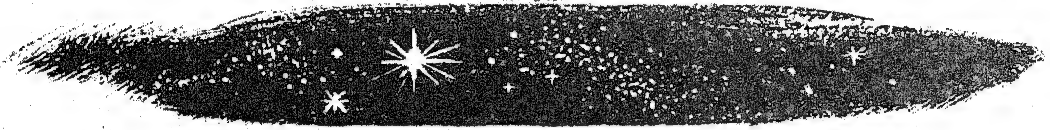
आकाशगंगाएं एक-दूसरे से लाखों प्रकाश-वर्ष दूर होती हैं तथा प्रत्येक आकाशगंगा में करोड़ों ही सितारे होते हैं। ये आकाशगंगाएं इतनी दूर हैं कि इनकी व्यापकता का अनुमान लगाना कठिन है। सौरमण्डल की आकाशगंगा के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुंचने में प्रकाश को भी लगभग एक लाख प्रकाश-वर्ष लगते हैं जबकि प्रत्येक प्रकाश-वर्ष में 5.8785×10^{12} मील होते हैं।

अभी हाल ही में अमरीका के नगर हवाई स्थित कैलिफोर्नियां टैक्नोलोजी संस्थान ने अकस्मात ही सबसे प्राचीन आकाशगंगा (ग्लैक्सी) को देखा जो न केवल पृथ्वी से सर्वाधिक, कोई 140 खरब प्रकाश-मील की दूरी पर है, वरन् यह ब्रह्माण्ड में ज्ञात सर्वप्राचीन आकाशगंगा है। इसे संसार की सबसे बड़ी दूरबीन द्वारा देखा गया जो हवाई के मौनाकिः नामक बुझे हुए ज्वालामुखी की 4,260 मीटर चोटी पर स्थापित है।

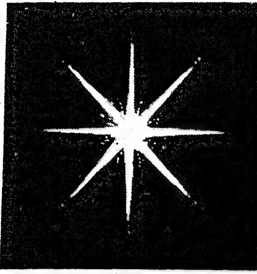
तारापुंज

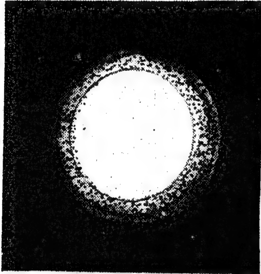
सितारों की ओर ध्यानपूर्वक देखने से कई प्रकार के तारा-समूह, भिन्न प्रकार की तारा संरचनाएं व आकृतियां जैसे वर्ग, त्रिकोण आदि दिखाई पड़ती हैं। आदिकाल से ही संसार के कोने-कोने में लोग इन आकृतियों का अपनी-अपनी संस्कृति के अनुरूप नामकरण करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, जहां सप्त-ऋषि तारामण्डल भारतीय संस्कृति की देन है वहीं बेबीलोनिया के लोगों ने सर्वप्रथम सितारों को जीव-जंतुओं एवं अपने पौराणिक राजाओं, रानियों तथा वीरों के नामों से संबोधित किया। इसी प्रकार प्राचीन काल से रोमन व यूनानी लोग भी भिन्न-भिन्न तारासमूहों को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते आये हैं।

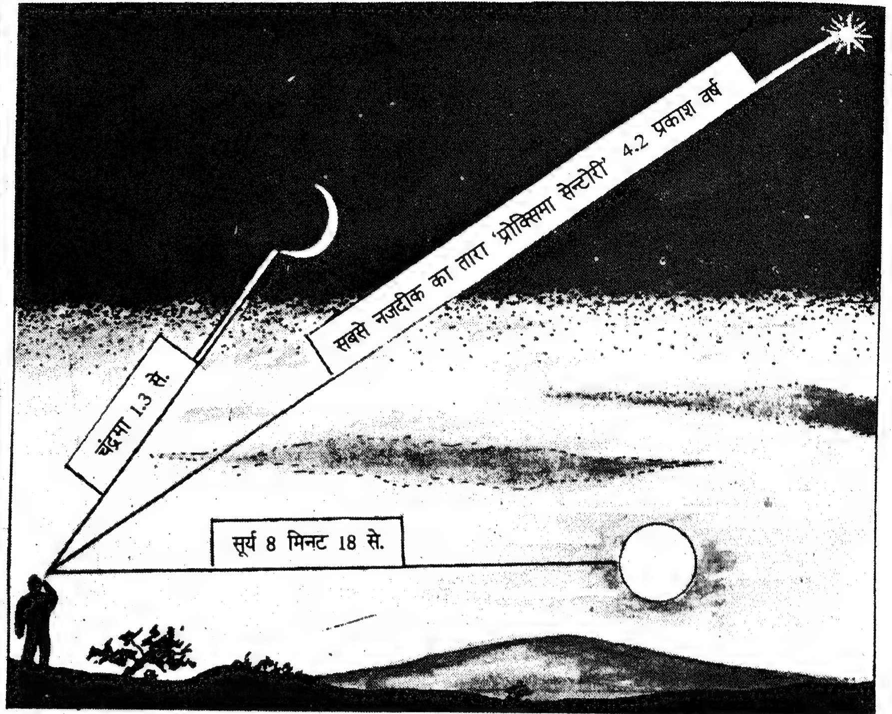
वर्ष 150 ए॰ डी॰ में विश्वविख्यात खगोलशास्त्री टोलेमी (Ptolemy) ने ऐसे 48 तारासमूहों की एक सूची तैयार की जो धीरे-धीरे बढ़कर आज के खगोल विज्ञानियों के अनुसार 88 तक हो गई है। आज कुछ तारामण्डल वैज्ञानिक यंत्रों के नाम से भी पुकारे जाते हैं जैसे सेक्सटेंट या षष्ठक, कम्पासेज अर्थात् दिक्सूचक, माईक्रोस्कोप या खुर्दबीन तारामण्डल आदि- आदि।



तारापुंज सितारों का वह समूह अथवा क्षेत्र है जिसमें कोई भी एक सितारा-समूह अन्य सितारों के साथ-साथ ऐसे स्थित है कि उनके समूह से एक विशेष प्रकार का आकार प्रस्तुत होता है। वह ठीक इसी प्रकार का परस्पर संबंध स्थापित रखते हैं जैसे कि किसी भी देश के प्रदेश या किसी भी नगर के विभिन्न उपनगर। अपने विभिन्न-विभिन्न आकार में सीमित होने के परिणामस्वरूप तारापुंजों की सीमाएं कुछ अनियंत्रित या अनियमित होती हैं। अतः 1928 में खगोलज्ञों ने निर्णय लिया कि किसी भी तारापुंज की पहचान केवल सीधी रेखाओं के अंतर्गत ही होनी चाहिए। कुछ भी हो, तारापुंजों का संसार रहस्यमय एवं चकित कर देने वाला अवश्य है तथा प्रत्येक तारापुंज वैज्ञानिक अध्ययन का अत्यंत रोचक विषय प्रस्तुत करता है।


पृथ्वी से देखने पर तारा


दूरबीन से देखने पर तारा



तारों के प्रकाश को पृथ्वी तक आने में एक लंबा समय चाहिए

व्याप्त हैं जो प्रायः पृथ्वी पर पाए जाते हैं जैसे हाईड्रोजन, हीलियम, लोहा, चूना, मैगनेशियम आदि। यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक चमकता सितारा सूर्य के समान होता है। सितारे इतने गरम होते हैं कि इनमें पड़ा लोहा भी गैस में परिवर्तित हो लुप्त हो जाता है ।

कुछ सितारे ठण्डे भी होते हैं तथा उनमें ये पदार्थ तरल आकार में व्याप्त रहते हैं जैसे जलती हुई भट्टी में उबलता लोहा। कुछ और अधिक ठण्डे सितारों में ये पदार्थ और अधिक घने आकार में व्याप्त रहता है यहां तक कि इसके एक घन इंच का वज़न कोई एक वन के बराबर होता है। ये सब सितारे मृत सितारे भी कहे जाते हैं। अतः सितारों के भिन्न-भिन्न रंग जैसे सफेद, नीले, पीले, लाल आदि यह संकेत करते हैं कि उनमें व्याप्त पदार्थ कौन-कौन से हैं तथा वे कितने गरम हैं। इन सबको जानने के लिए स्पैक्ट्रोस्कोप नामक यंत्र का प्रयोग किया जाता है।

सितारों की संख्या अनन्त है। किसी भी स्थान से, एक ही समय, कुछ छः हजार सितारे ही, खुली आंख द्वारा देखे जा सकते हैं। दूरबीन की खोज से पूर्व सितारों को अपने आकार एवं

चमक के आधार पर छः वर्गों में बांटा जाता था। पहले वर्ग में सबसे ज्यादा चमकदार सितारे तथा छटे वर्ग में सबसे कम चमकीले सितारे आते हैं। इनसे छोटे आकार के सितारों को बिना दूरबीन देखा ही नहीं जा सकता। परन्तु आज आकार में 21वें स्थान पर आने वाले सितारों को भी आधुनिक दूरबीनों के द्वारा चिह्नित किया जा सकता है। उत्तरी अमरीका से दिखाई देने वाले सितारों में उत्तरी गोलार्द्ध में सबसे चमकीला सितारा साईखिस है जो सबसे कम चमकदार सितारे की अपेक्षा 1000 गुना अधिक चमकदार है। यह कोई आठ प्रकाश-वर्ष की दूरी पर है। ऐसे पहले वर्ग के भारी-भरकम तथा सबसे चमकदार सितारों की संख्या केवल 22 है और 20वें आकार के सितारों की गिनती तो कई अरब है।

सितारों के बारे में जानकारी प्राप्त करने हेतु अब कई प्रकार के उपकरण उपलब्ध हैं जैसे दूरबीन, कैमरा, स्पैक्ट्रोलेखी, रेडियो-दूरबीन, अन्य विशेष दूरबीनें व अन्य विशिष्ट उपकरण-समूह जिनकी सहायता से खगोलशास्त्री सितारों की विभिन्न विशिष्टताओं जैसे गति-प्रक्रिया, चमक-दमक, रंग, तापमान, बनावट आदि का अध्ययन करते हैं। इस अध्ययन में सितारों की दूरी से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। पृथ्वी से निकटतम सितारे 4½ प्रकाश-वर्ष या 270 खरब मील की दूरी पर स्थित हैं। पृथ्वी के निकटतम सितारों के नाम हैं 'प्राकसीमा सैन्टोरी' अर्थात् निकटतम किन्नर और 'अल्फा सैन्टोरी' अर्थात् अल्फा किन्नर। इनकी पृथ्वी से दूरी सूर्य से पृथ्वी की दूरी से 2.7 लाख गुना अधिक है। क्योंकि पृथ्वी की सूर्य से दूरी 15 करोड़ कि॰ मी॰ है। अतः निकटतम सितारों की पृथ्वी से दूरी 2,70,000×150,000,000 कि॰ मी॰ है और क्योंकि प्रकाश की गति 3,00,000 कि॰ मी॰ प्रति सैकिंड होती है, अतः सूर्य के प्रकाश को भूमि पर पहुंचने में 8 मिनट लगते हैं।

इस गणना के अनुसार इन सितारों की रोशनी को भूमि पर पहुंचने में 4½ वर्ष लगते हैं। सितारों की दूरी को प्रकाश-वर्ष के रूप में मापा जाता है। एक प्रकाश वर्ष में दस बिलयन अर्थात् 100 खरब कि॰ मी॰ होते हैं। इन सितारों से दूर अनेक अन्य सितारे हैं, जिनकी दूरी का अनुमान भी लगाया जा सकता है।

जबकि विशेष प्रकार की दूरबीन आकाश के व्यापक क्षेत्रों का चित्र उतार सकती है और कैमरे अवलोकित सितारों के स्थायी चित्र प्रदान करने में सहायता करते हैं, स्पैक्ट्रोलेखी सितारों के वर्णक्रमों अथवा सितारों से निकलती प्रकाश किरणों का चित्र निकालने में सहायक होती है। इससे यह पता चलता है कि सितारे किस पदार्थ से बने हुए हैं, उनका तापमान क्या है तथा वे किस गति से चल रहे हैं ? सितारों में कौन-कौन से रासायनिक तत्त्व हैं यह जानने के लिए उनके वर्णक्रमों की प्रयोगशाला में जाने गए वर्णक्रमों से तुलना की जाती है। वस्तुतः सितारों में जो तत्त्व

पाए जाते हैं वे सब पृथ्वी में भी विद्यमान हैं। सितारे मौलिक रूप से अत्यन्त गरम गैस, विशेषकर हाइड्रोजन तथा हीलियम, के गोले होते हैं।

किसी भी सितारे का वर्णक्रम अन्य सितारों के वर्णक्रम के समान हो सकता है तथा उनको भिन्न वर्णक्रम के समूहों में भी विभाजित किया जा सकता है। प्रत्येक एक समान वर्णक्रम समूह का रंग भी एक समान होता है। ये रंग नीले से लेकर लाल तक होते हैं। सूर्य एक पीले रंग का सितारा है जो इस क्रम में मध्य रंग है। वर्णक्रम के रंगों के मूल्यांकन से सितारे का तापमान भी जाना जा सकता है। जबकि नीले सितारे विशाल, गरम तथा चमकदार होते हैं और उनका तापमान 2,500° सें॰ ग्रे॰ या उससे भी अधिक होता है, लाल रंग के सितारे प्रायः ठण्डे होते हैं और उनका पृष्ठीय तापमान 1,600° सें॰ ग्रे॰ या इससे कम ही होता है।

सितारों की अत्यन्त लम्बी दूरी मापने हेतु रेडियो-दूरबीन का प्रयोग भी किया जाता है जिससे सितारों और नक्षत्रों से निकलती रेडियो लहरों की शक्ति का ब्यौरा रखा जाता है। इस प्रकार की विधियों व उपकरणों के प्रयोग से सितारों के बारे में बहुत कुछ जाना जा सकता है। सितारों की दूरी का अनुमान लगाने के लिए निश्चित सितारे को दो दूरस्थ भिन्न-भिन्न स्थानों से देखा जाता है, प्रायः पृथ्वी के दो किनारों से या फिर एक ही स्थान से छः मास के अन्तराल पर। ऐसा करने से सितारे की स्थिति में अन्तर दिखाई देता है। इस प्रत्यक्ष स्थिति परिवर्तन को पैरेलेक्स की संज्ञा दी जाती है। इस पैरेलेक्स के परिमाप द्वारा सितारे की दूरी को मापा जाता है। यह परिमाप दूरबीन की सहायता से लिया जाता है।

आखिर सितारे हैं क्या ? वस्तुतः प्रत्येक प्रज्वलित तारा सूर्य के समान सुलगती हुई आग जैसा विशालकाय गोला है। सितारे इतने गरम होते हैं कि वे धातुओं तक को गला देने की शक्ति रखते हैं। उनमें द्रव्य अणु व परमाणु परस्पर दूर-दूर होते हैं तथा पृथ्वी पर उपलब्ध सभी प्रकार के रासायनिक तत्त्व जैसे हाइड्रोजन, हीलियम, लोहा, चूना, मैगनेशियम आदि इनमें भी विद्यमान होते हैं। कुछ सितारे ठंडे होते हैं जिनमें तरल पदार्थ विद्यमान हो सकते हैं। कुछ प्राचीनतम ठंडे सितारों में तो तरल पदार्थ इतना सघन होता है कि उनका इंच भर भाग भी टनों का भार रखता है। ऐसे सितारों को 'जड़' या काले गहरे सितारे कहते हैं। सितारों के भिन्न-भिन्न रंग जैसे सफेद, नीले, पीले, लाल आदि भी संकेत देते हैं कि अमुक तारा किन रासायनिक तत्त्वों से संगठित हैं तथा इसका तापमान व प्रकाश कैसा है।

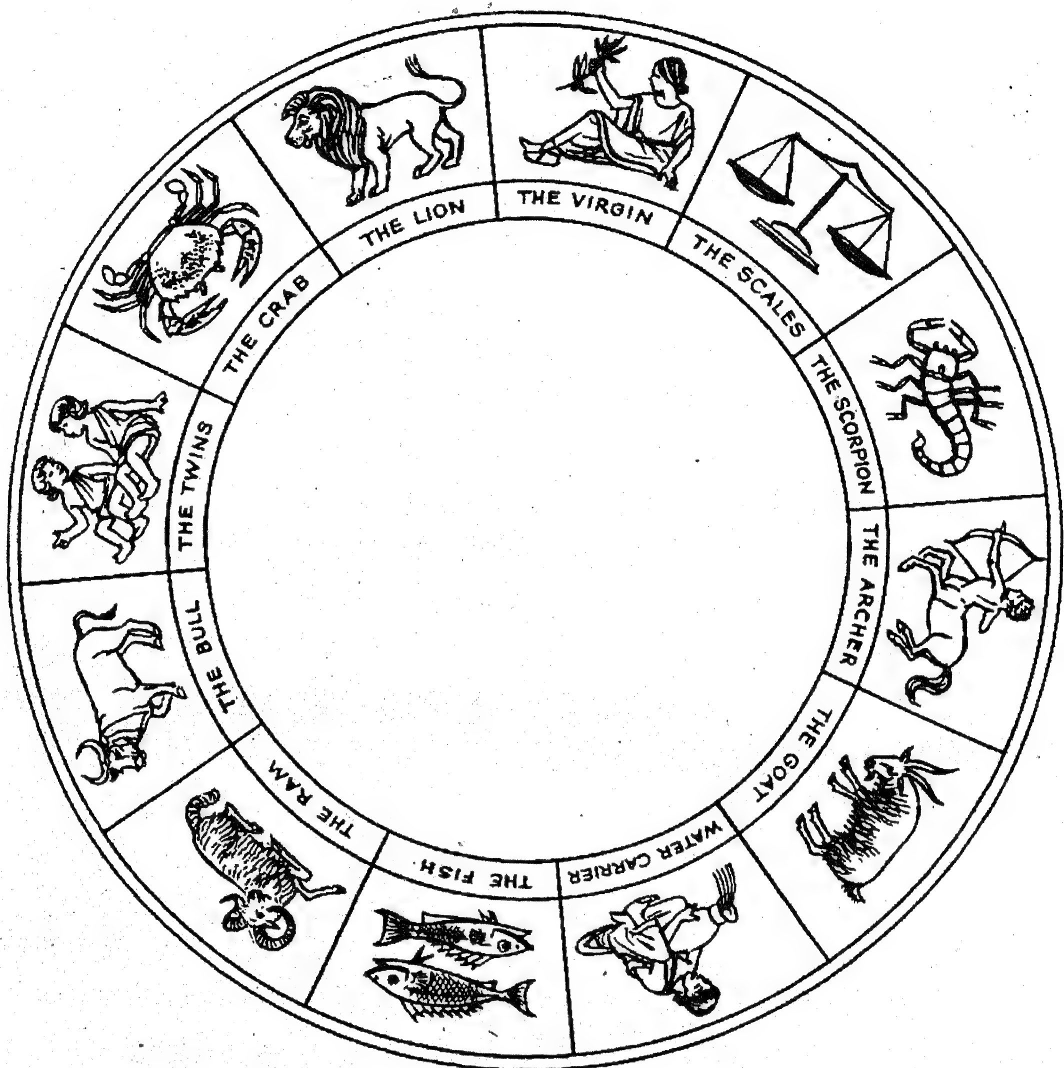
राशि-चक्र

रात को आकाश की ओर देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से चमकते सितारे कुछ विशेष आकार अथवा विशेष प्रकार के समूहों में स्थापित हैं। इनको तारापुंज अथवा नक्षत्र की संज्ञा दी जाती है। प्राचीन काल से ही इन तारापुंजों का नामकरण होता आ रहा है। कुछ देवी-देवताओं के नाम से, तो कुछ युगपुरुषों के नाम से, कुछ पशु-पक्षियों के नाम से तो कुछ सामान्य वस्तुओं के नाम से जाने जाते रहे हैं। कुछ विशेष नक्षत्रों का ऋतुओं के अनुरूप भी नामकरण किया गया है। इसी प्रक्रम में बारह ऐसे नक्षत्रों को सम्मान दिया गया जो जीवित वस्तुओं के गोलाकार घेरे के अन्तर्गत आते हैं। प्रायः इन बारह नक्षत्रों का जीवित वस्तुओं के आधार पर ही नामकरण किया गया। वस्तुतः ये आकाश के उस भाग या मार्ग को प्रदर्शित करते हैं जिस पर सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य ग्रह अपनी यात्रा सम्पन्न करते हैं। सूर्य व चन्द्रमा सदैव आकाश के इसी मार्ग से निकलते व अस्त होते हैं जो इन बारह नक्षत्रों के घेरे में स्थित है। इस आकाश मार्ग को ही जोड़ियैक तथा राशिचक्र की संज्ञा दी जाती है।

प्राचीन नक्षत्रशास्त्रियों ने इस आकाश मार्ग को अर्थात् जोडियैक को बारह खण्डों में विभाजित किया तथा इन नक्षत्रों या तारामण्डलों का नामकरण इस प्रकार किया—1. टॉरस (Taurus) अथवा वृष (बैल); 2. एरीज़ (Aries) या मेष (भेड़); 3. पीसिज (Pisces) अथवा मीन (मछली); 4. ऐक्वैरियस (Aquarius) या कुंभ; 5. कैपरीकार्न (Capricorn) अर्थात् मकर (बकरी); 6. सैजीटैरियस (Sagittarius) या धनु (धनुष); 7. स्कॉर्पियन (Scorpion) या वृश्चिक (बिच्छू); 8. लिबरा (Libra) या तुला; 9. वर्गो (Virgo) या कन्या (Virgin); 10. लियो (Leo) या सिंह; 11. कैन्सर (Cancer) या कर्क (कर्कट या केकड़ा); तथा 12. जैमिनी (Gemini) या मिथुन। इन बारह तारा-समूहों को ही राशिचिह्न या राशिचक्र कहा जाता है।

पूर्वी क्षितिज में हर महीने राशिचक्र का भिन्न-भिन्न चिह्न प्रकट होता है तथा सूर्य व चन्द्रमा इसी विशेष चिह्न के अनुरूप ही निकलते दिखाई देते हैं। इस राशिचक्र को जन्मकुण्डली बनाने का आधार माना जाता है। जन्म-कुंडली चित्रण करने में इन अन्तरिक्षीय पिण्डों की ही सहायता ली जाती है तथा निश्चित समय के अनुरूप सूर्य, चन्द्रमा, सितारों तथा ग्रहों की प्रासंगिक स्थितियों को दर्शाया जाता है।

किसी भी व्यक्ति-विशेष की जन्म-कुण्डली बनाने हेतु उसके जन्म, समय एवं स्थान की सही जानकारी अनिवार्य है क्योंकि केवल इन सूचनाओं के आधार पर ही नक्षत्रों की सही स्थिति दर्शाई जा सकती है। समय व स्थान के विषय में लेश-मात्र त्रुटि के परिणामस्वरूप जन्म-कुण्डली



का सही होना संदेहप्रद हो सकता है। अतः जन्म के सही समय व स्थान का जन्म- कुण्डली तैयार करने में अत्यधिक महत्त्व रहता है क्योंकि इनके सही होने पर ही ज्योतिषी अथवा कुण्डली-पण्डित भविष्य का सही अनुमान लगा सकता है, अन्यथा यह अनुमान दोषपूर्ण ही रहेगा।

ज्योतिष विज्ञान की यह दृढ़ धारणा है कि नक्षत्र मानव जीवन पर अपना अद्भुत प्रभाव

छोड़ते हैं। खगोल विज्ञानी नक्षत्रों की सही स्थिति के अवलोकन द्वारा भविष्य की घटनाओं का सही अनुमान लगा सकते हैं। इस विज्ञान द्वारा सिद्ध किया गया है कि नक्षत्रों की स्थितियां व गतिविधियां मानव जीवन के सम्बन्धों एवं समस्याओं पर अपनी गहरी छाप छोड़ती हैं। अतः जन्म-कुण्डली नक्षत्रों की स्थिति के अनुरूप ही मानव-जीवन सम्बन्धी भविष्यवाणी का प्रावधान करती है।

प्राचीन नक्षत्रशास्त्री राशिचक्र के इन बारह तारापुंजों के अतिरिक्त, 36 और तारापुंजों से भी परिचित थे। अतः कुल मिलाकर इन 48 तारापुंजों को ही प्राचीन तारासमूहों या नक्षत्रों की संज्ञा दी जाती है। समय पाकर खगोलशास्त्रियों ने 40 अन्य नक्षत्रों को भी खोज निकाला जिन्हें अब आधुनिक नक्षत्रों की संज्ञा दी जाती है। आज तक 48 तारामंडलों के विषय में सूचना प्राप्त है। प्राचीन यूनानी खगोलज्ञों ने केवल 8 तारामंडलों की ही सूची प्रस्तुत की थी। शेष 40 तो उस काल के बाद ही समय-समय पर खोजे गए। स्मरण रहे कि ये सभी तारामंडल किसी एक ही स्थान से देखे नहीं जा सकते। इनमें से कुछ दक्षिणीय अर्द्धगोलार्द्ध के आकाश में स्थित हैं तथा अन्य कुछ केवल भूमध्यरेखा के दक्षिण से देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी के सूर्य के इर्द-गिर्द चक्कर काटते समय क्षितिज के ऊपर नये-नये सितारों के समूह भी दिखाई पड़ते हैं। परिध्रुवी तारामंडल पूरे वर्ष ही दिखाई देते रहते हैं जबकि अन्य कुछ ऐसे हैं जो केवल ऋतु अनुरूप में ही दिखाई पड़ते हैं।

तारामंडल वस्तुतः हैं क्या ? विशेषकर रात को ऊपर आकाश की ओर देखते हुए तारासमूहों के कई क्रमबद्ध आकार दिखाई पड़ते हैं जैसे वर्गाकार, अक्षराकार, त्रिकोणाकार, परिधि आकार आदि। इन्हें ही तारामंडलों की संज्ञा दी जाती है। चिरकाल से ही मनुष्य आकाश में तारों के झुंडों में कई प्रकार के आकार देखता आ रहा है तथा इन्हीं आकारों के आधार पर इन तारामंडलों को भिन्न-भिन्न नाम भी प्रदान करता आ रहा है। यह आवश्यक नहीं कि तारामंडलों के आकार वस्तुतः वैसे ही हो जैसे वे अपने बहिर्रेखा आकार में प्रतीत होते हैं। उनके दिखाई देने वाले तथा वास्तविक आकारों में भी भिन्नता हो सकती है। यह भी प्रायः सर्वमान्य नहीं कि अलग-अलग नामों से जाने गए तारामडलों के आकारों को आकाश में सदैव ही देखा जा सके। वस्तुतः इस प्रकार की अनेक सम्भावनाओं से इन्कार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह ज़रूरी नहीं कि जो कुछ भी आज दिखता है वह सब यूं ही सदैव बना व दिखता रहे।

ग्रहों के महत्व को आंकते हुए सप्ताह के दिनों का नामकरण भी प्रायः उन्हीं के अनुकूल हुआ।

संस्कृति व सभ्यता के विकास के साथ-साथ समय का सही उपयोग करना अनिवार्य होता गया। अतः समय के सदुपयोग हेतु विभिन्न देशों ने कुछ दिनों के प्रत्येक अन्तराल पर एक अवकाश

का दिन अपने-अपने ढंग से निश्चित किया ताकि दैनिक काम की निरन्तर थकान के बाद विश्राम, मनोरंजन, क्रय-विक्रय आदि के लिए भी कुछ समय मिल सके। प्रारम्भ में कई स्थानों पर इन उद्देश्यों हेतु हर दसवां दिन निश्चित रहा और कहीं-कहीं हर सातवां या पांचवां दिन। सर्वप्रथम बेबीलोनिया के लोगों ने यह निर्णय लिया कि प्रत्येक सातवां दिन कामकाज का न होकर व्यापारिक तथा धार्मिक मेलों में व्यतीत होना चाहिए। अतः इस दिन को अवकाश के रूप में अपनाया गया। यहूदियों ने भी इसी परम्परा को अपनाते हुए दिनों का नामकरण किया तथा प्रत्येक शनिवार धार्मिक उद्देश्यों हेतु निश्चित किया।

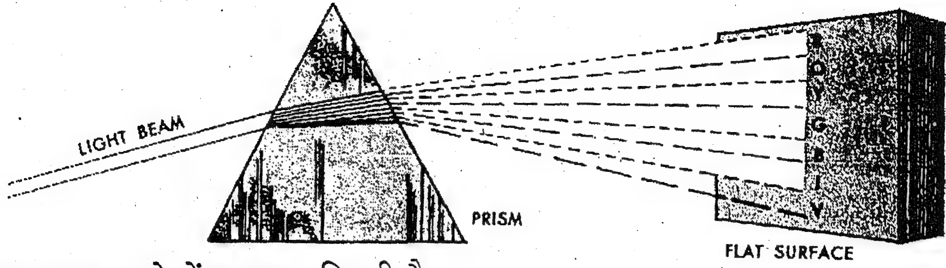
मिस्र वासियों ने भी जब सात दिवसीय सप्ताह अपनाया तो उन्होंने इनका नामकरण पांच ग्रहों अर्थात् मंगल, बुध, बृहस्पति, शनि तथा सूर्य व चांद के आधार पर किया। रोमन लोगों ने भी इसी नामकरण को अपनाया क्योंकि वे भी इन ग्रहों को अपना ईश्वर मानते थे। इसी प्रकार ऐंग्लो-सैक्सन लोगों ने भी इसी नामकरण को माना क्योंकि उनके ईश्वर भी लगभग यही थे। यद्यपि तब दिन की परिभाषा सूर्योदय से सूर्यास्त तक ही थी, रोमन लोगों ने आधी रात्रि से अगली आधी रात्रि तक के दिन की परिभाषा अपनाई। यही परंपरा आज भी विश्व के अनेक देशों में प्रचलित है। भारतीय संस्कृति में तो चिरकाल से ही दिनों की गणना ग्रहों के आधार पर होती रही है तथा राशिफल का महत्त्व अभूतपूर्व रहा है।

वर्णक्रम

किसी भी प्रकार की शक्ति जैसे प्रकाश, ध्वनि, उष्णता आदि के वितरण को स्पैक्ट्रम या वर्णक्रम की संज्ञा दी जाती है। उदाहरणार्थ इसमें वे रेखाएं सम्मिलित होती हैं जो श्वेत प्रकाश के मुड़ने पर टूटकर बनती हैं। प्रकाश के प्रिज़्म या समपार्शन में से गुजरने पर यही रेखाएं बनती हैं। वस्तुतः रंग की छायाकिरणों के अतिरिक्त, वर्णक्रम के आर-पार सहस्रों समानान्तर रेखाएं बनती दिखाई देतीं हैं जिनको उनके अन्वेषक के सम्मान में 'फ्रोनहोफर रेखाओं' की संज्ञा दी जाती है। वर्णक्रम के अध्ययन मात्र से ही खगोलशास्त्री यह बता सकता है कि अरबों मील दूर कोई सितारा किस-किस वस्तु से बना हुआ है तथा इसमें कौन-कौन से मूलतत्त्व विद्यमान हैं। वह इसके तापमान को भी नाप सकता है तथा निश्चित रूप से यह भी बता सकता है कि यह सितारा किस गति से चल रहा है, और यह भी कि क्या यह गतिप्रक्रिया पृथ्वी की ओर या इसके विपरीत पृथ्वी से दूर जा रही है।

जब कोई सितारा पृथ्वी की ओर आ रहा होता है तब वर्णक्रम रेखाएं वर्णक्रम के बैंगनी छोर की ओर सरकती चली जाती हैं और जब यह पृथ्वी से दूर जा रहा होता है तब ये रेखाएं वर्णक्रम के लाल छोर की ओर सरकती हैं। सितारों के सरकाव या विस्थापन की मात्रा के अध्ययनों से विज्ञानियों ने गणना की है कि कुछ सितारे तो अन्तरिक्ष में 150 मील प्रति सैकिंड की गति से आपस में टकराते या झपटते रहते हैं। वर्णक्रम में मूलतत्त्व की रेखा स्थितियों में परिवर्तन प्रायः तापमान में परिवर्तन के कारण घटित होता है। अतः इसी के परिणामस्वरूप खगोलशास्त्री अरबों मील दूर स्थित सितारों के तापमान के विषय में भी बहुत कुछ बता सकते हैं।

वस्तुतः गैसीय या वाष्पीय अवस्था में प्रत्येक रासायनिक मूलतत्त्व वर्णक्रम में अपनी-अपनी रेखाओं के निजी प्रारूप का एक निश्चित स्थान बनाए रखता है। ये रेखाएं उन रंगों को प्रदर्शित करती हैं जो प्रारूप यह मूलतत्त्व प्रकाश से ग्रहण करता है तथा गरम होकर अपनी चमक द्वारा प्रदर्शित हो उठता है। दूसरे शब्दों में, इस अध्ययन द्वारा विज्ञानी यह पता लगा सकता है कि किसी भी वस्तु, चाहे वह आकाश में कितनी ही दूर क्यों न हो, में किन-किन पदार्थों का समावेश है। प्रत्येक मूलतत्त्व अपनी ही एक निजी गहरी रेखा अथवा 'ऐबज़ॉर्पशन स्पैक्ट्रम' या 'अपचूसन वर्णक्रम' बनाए रखता है जो किसी भी अन्य मूलतत्त्व के वर्णक्रम से भिन्न होता है। अतः अध्ययन-अधीन पदार्थ के वर्णक्रम की तुलना प्रयोगशाला में ज्ञात हुए मूलतत्त्वों के वर्णक्रमों से करने पर भौतिकशास्त्री यह बता सकता है कि यह वस्तु क्या है, अर्थात् प्रत्येक मूलतत्त्व अपनी प्रकाश रूपी अवस्था में अपनी विशेष छाप स्थापित करे रखता है जिससे ब्रह्माण्ड के बारे



में ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

प्रकाश एक प्रकार की शक्ति है जो भिन्न प्रकार के प्राथमिक एवं उपमौलिक रंगों व तरंगों का सम्मिश्रण है। यह शक्ति भिन्न पदार्थों को भिन्न-भिन्न रंग प्रदान करती है। कोई भी वस्तु हमें हरी, नीली, पीली, लाल आदि रंग की दिखाई देती है क्योंकि वह उसी विशेष रंग को परावर्तित करती है जिस रंग की वह दिखाई देती है तथा अन्य रंगों को अपने में चूस या जज़्ब कर लेती है। यह परावर्तित एवं जज़्ब होने की क्षमता प्रकाश द्वारा ही प्रदान की जाती है।

प्रकाश एक शक्ति है, इसे साधारण प्रयोग द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है। सूर्य के प्रकाश को मोटे शीशे से गुज़ारने पर इसकी किरणों की गरमी से आग तक भी सुलगाई जा सकती है। प्रकाश व गरमी गहरे व काले रंगों में जज़्ब हो जाते हैं जबकि सफेद रंग के पदार्थ उन्हें परावर्तित करते हैं। परिणामस्वरूप सामान्य ज्ञान की यह मान्यता है कि काले कपड़ों की बजाए सफेद कपड़े ठंडक प्रदान करते हैं। अतः प्रकाश की शक्ति की तीव्रता को दर्शाने हेतु प्रकाश की किरणों को मोटे शीशे से गुज़ारने से काले रंग के कपड़े के टुकड़े को सहज ही सुलगाया जा सकता है जबकि सफेद व अन्य रंग का कपड़ा सुलगाने में अधिक समय लगता है।

यूं तो वर्णक्रम में प्रकाश के सात रंग ही दिखाई देते हैं, फिर भी यन्त्रों के माध्यम से सौ से अधिक रंगों व उपरंगों को देखा जा सकता है। प्रकाश में केवल तीन प्राथमिक या प्रमुख रंग होते हैं। अन्य सब रंग व उपरंग इनके मिश्रण से बनाए जा सकते हैं।

अतः स्पैक्ट्रम या वर्णक्रम द्वारा प्रमुख रूप से प्रकाश के रंगों व तरंगशक्तियों का अध्ययन कर ब्रह्माण्ड के विषय में ज्ञान अर्जित किया जाता है। इस कार्य हेतु संसार के अनेक देशों के प्रमुख नगरों में वेधशालाएं स्थापित हैं।

वेधशाला अथवा आब्ज़र्वेट्री वह निरीक्षण गृह होता है जिसे सूर्य, चन्द्रमा तथा सितारों के अध्ययन हेतु खगोल निरीक्षण सम्बन्धी अनेक मुख्य उपकरणों व यन्त्रों जैसे दूरबीन तथा अन्य सहायक उपकरणों जैसे कैमरा, स्पैक्ट्रोदर्शी, स्पैक्ट्रोलेखी, स्पैक्ट्रोसूर्यलेखी आदि से सुसज्जित कर तैयार किया जाता है। इन यन्त्रों को पक्की इमारतों में सुरक्षित रखा जाता है। दूरबीन की सुरक्षा

के लिए बनी इमारत को दो भागों में विभक्त किया जाता है। इसका निचला भाग स्थिर होता है तथा इसका ऊपरी भाग या छत गुम्बद के आकार का होता है, जो सुविधानुसार एक पटरी पर घुमाया जा सकता है। इस गुम्बद में एक झरोखा या रेखा-छिद्र भी बना रहता है जिसमें से दूरबीन द्वारा बाहर खुले आकाश की किसी भी ओर झांकना सहज होता है। गुम्बद तथा दूरबीन दोनों को ही विद्युतीय मोटर से घुमाया जाता है। आधुनिक वेधशाला में व्यवस्था सुधार के फलस्वरूप खगोलशास्त्री केवल कुछ बटन दबाकर ही इस सारे उपकरण को चला सकते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सकुशल निरीक्षण हेतु खगोलज्ञ की आंख दूरबीन या इसमें लगे कैमरे के देखने वाले शीशे या नेत्रक के निकट ही जमी रहनी चाहिए। अतः कुछ वेधशालाओं में ऐसा भी प्रबन्ध है कि इसके फर्श को आवश्यकतानुसार नीचे या ऊपर सरकाया जा सकता है या फिर इस उद्देश्य हेतु एक समायोजित चबूतरे की व्यवस्था की जाती है। आंख द्वारा उपलब्ध सूचनाओं के अतिरिक्त अन्य समायोजित उपकरण भी सूचना एकत्रित करने में सहायता करते हैं।

ध्यान रहे कि वेधशाला सदा ही एक ऐसी उपयुक्त स्थान पर बनाई जानी चाहिए जहां की जलवायु तथा स्थितियां अनुकूल हों, तापमान मिताचारी हो, जहां भरपूर धूप भरे अनेक दिन हों व सुस्पष्ट बादल रहित रातें, तथा जहां धूल, वर्षा एवं बर्फबारी की दशाएं न हों अथवा अत्यन्त कम हों। इसे नगर व शहर की रोशनी व नियोनप्रकाश चिह्नों से दूर ही स्थापित करना चाहिए क्योंकि ऐसा प्रकाश अच्छे व स्पष्ट आवलोकन में बाधा डाल सकता है।

यह भी सत्य है कि कुछ हजार वर्ष पूर्व न ही दूरबीन थी और न ही अन्य सम्बन्धित उपकरण। तब सूर्य, चन्द्रमा व सितारों सम्बन्धी अध्ययन सम्भवतः मिस्र में स्थापित पिरामिडों या सूची-स्तम्भों, या फिर बेबीलोनियां में स्थापित मन्दिरों या पूजाघरों की सहायता से किया जाता था। भारतीय परम्परा में भी कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था थी। इसके अन्तर्गत विशेष प्रकार की जन्तर-मन्तर नामक प्रयोगशालाएं स्थापित हुईं जिनके दो प्रमुख उदाहरण दिल्ली व जयपुर स्थित जन्तर-मन्तर आज भी दर्शनीय हैं। ये अपने ही ढंग की वेधशालाएं थीं जिनसे न केवल सूर्य, चन्द्रमा व सितारों का ज्ञान ही अर्जित किया जाता था, वरन् ग्रहों, उपग्रहों की दशा, समय तथा राशिचक्र तक का ज्ञान भी उपलब्ध था।

प्रकाश

प्रकाश क्या है ? इसका सही-सही वर्णन करना कठिन कार्य है क्योंकि प्रकाश भी प्रकृति के बड़े-बड़े रहस्यमय अचम्भों में से ही एक है। प्रकाश प्रकृति का एक अजूबा है। इसे केवल इसके गुणों व कार्यों द्वारा ही समझा जा सकता है न कि इसके मौलिक रूप में। अन्य शक्तियों की भान्ति यह भी एक अद्वितीय शक्ति है जिसे इसकी गति, बारम्बारता, तरंग लम्बाई, वर्णक्रम रंग-भेद आदि द्वारा ही जाना जाता है। प्रकाश के रहस्य को समझने हेतु समय-समय पर अनेक प्रयोग होते रहे हैं। न्यूटन की राय में प्रकाश की सूक्ष्म कणिकाएं प्रकाश स्रोत से सूक्ष्म- सी गोलियों के रूप में उठती आती हैं जबकि अन्य धारणाओं के अनुसार प्रकाश के कण ब्रह्माण्ड में ठीक उसी प्रकार की तरंगें उत्पन्न करती हैं जैसी सूक्ष्म-सी कंकरी को जलाशय में फेंकने से उत्पन्न होती हैं। प्रकाश का कणों व तरंगों वाला स्वरूप तो यद्यपि कई परीक्षणों द्वारा सिद्ध हो चुका है, फिर भी प्रकाश के रहस्यमयी स्वरूप की सम्पूर्ण जानकारी हेतु खोज जारी है।

प्रकाश की दूरी व गति के संदर्भ में कई तथ्य निश्चित हो चुके हैं।

प्रकाश किरण द्वारा निर्वात या शून्य में एक वर्ष में तय की गई दूरी-इकाई को प्रकाश-वर्ष की संज्ञा दी जाती है। यह दूरी कोई 58.8 खरब मील या 96.46 खरब कि॰ मी॰ है। यद्यपि प्रकाश की सम्पूर्ण व्याख्या करना कठिन है, फिर भी इसे स्पष्ट रूप में सही-सही नापा जा सकता है। इस संदर्भ में प्रकाश की गति को नापना एक वास्तविक खोज कहा जा सकता है। प्रकाश की गति को नापने के कई परीक्षण व प्रमाण उपलब्ध हैं।

हाल ही में अल्बर्ट पिशैलसन ने सिद्ध किया कि प्रकाश की गति 1,86,284 मील प्रति सैकिंड होती है, जिसे आज लगभग सही माना जाता है। वर्ष भर में प्रकाश 58.8 खरब मील की दूरी तय करता है, जिसे प्रकाश-वर्ष कहा जाता है। यह गणना प्रकाश की प्रति सैकिंड गति को वर्ष में कुल-सैकेंडों से गुणा करने से ज्ञात की जाती है।

यूं तो प्रकाश सफेद दिखाई देता है, यह वस्तुतः इन्द्रधनुष के सात रंगों का सम्मिश्रण है। यह सतरंगीस्वरूप प्रकाश के दर्पण के किनारों, साबुन के बुलबुलों की पृष्ठों, जल की बूंदों, समपार्श्व आदि पर पड़ने से भी दिखाई देता है। इस सब प्रक्रियायों में प्रकाश किरणें टूटकर अपने मौलिक रंग तत्त्वों में वितरित हो सप्तरंगों में समानान्तर रेखाओं के रूप में परावर्तित हो जाती हैं। ये रंग क्रमशः अपनी निजी तरंग लम्बाई के अनुरूप ही सुव्यवस्थित हो एक छोर से दूसरे छोर तक दिखाई देते सतरंगी के आकार में प्रस्तुत हो उठते हैं जिसे अंगरेज़ी शब्द VIBGYOR (violet, indigo, blue, green, yellow, orange, red) से भी सम्बोधित किया जा सकता है। ये रंग क्रमशः बैंगनी, नील-सा,

गहरा नीला, हरा पीला, नारंगी तथा लाल होते हैं। इनमें वस्तुतः तीन रंग अर्थात् नीला, हरा व लाल ही प्राथमिक कोटि के हैं तथा अन्य सभी रंग इन्हीं के मिश्रण से बनते हैं। लाल रंग की तरंग-लम्बाई सबसे बड़ी होती है तथा दूसरे छोर पर नीली व इससे सम्बन्धित रंगों जैसे बैंगनी की तरंग-लम्बाई क्रमशः सबसे छोटी होती है। इन तरंग-लम्बाईयों में अन्तर होने के परिणामस्वरूप ही प्रातः उगता हुआ तथा सायं डूबता हुआ सूर्य अपने प्रकाश की लाल रंग की लम्बी-लम्बी तरंगें दूर-दूर तक फैलाकर स्वयं भी लाल रंग का प्रतीत होता है और अपने चारों ओर सुहावनी लालिमा युक्त एक अधूरा दृश्य उत्पन्न करता है। प्रकाश का यह स्वरूप तो देखते ही बनता है। इसी प्रकार सप्तरंगी इन्द्रधनुष का दृश्य भी अत्यन्त मनोहारी होता है।

यह कहा जा सकता है कि प्रकाश की तरंग-लम्बाई पर ही निर्धारित होता है इसका रंग वितरण-प्रकाश का प्रत्येक रंग अपनी तरंग-लम्बाई के अनुरूप ही अपवर्तन के कारण भिन्न-भिन्न मात्रा में वितरित हो, अपने भिन्न रंगों को प्रस्तुत करता है। यदि प्रकाश का कोई अपवर्तन न हो तो यह सफेद रंग का ही प्रतीत होता है, परन्तु अपवर्तन होने पर बहुरंगी दिखाई देता है। रंग प्रकाश के स्वरूप का ही एक गुण है। वस्तु जिस रंग की दिखाई देती है, वही रंग उससे परावर्तित होता है, जबकि अन्य सभी रंग उसमें जज़्ब या अपचूसित हो जाते हैं। अतः रंग प्रकाश का स्वरूप है न कि किसी वस्तु का।

प्रकाश विशेषतया सदा ही सफेद रंग में व्याप्त रहता है चाहे इसका स्रोत सूर्य हो अथवा अन्य कोई उद्गम। इसमें सात रंग होते हैं जिनमें केवल तीन प्रमुख तथा शेष चार उप-मुख्य रंग होते हैं। प्रकाश में ये रंग ऐसे समाविष्ट रहते हैं कि सामान्यतौर पर उनका निजी रंग किसी भी प्रकार से अलग-अलग दिखाई नहीं देता। इन रंगों की झलक आपस में इस प्रकार घुल-मिलकर रहती है कि प्रकाश में इनका निजी स्वरूप दिखाई नहीं देता।

प्रकाश में समाये रंग केवल तभी पृथक्-पृथक् देखे जा सकते हैं जब प्रकाश को अपवर्तन द्वारा फैलाकर देखा जाता है। प्रकाश के रंगों को पृथक्-पृथक् फैलाने के उपकरण को वर्णक्रम अथवा स्पैकट्रम की संज्ञा दी जाती है। अपवर्तन द्वारा ये रंग विसर्जित होकर स्पष्ट दिखाई देते हैं। क्योंकि प्रकाश के रंगों की मात्रा व तीव्रता प्रकाश की तरंग-लम्बाई पर निर्भर करती है, अतः देखने में लाल रंग की तरंगें सबसे लम्बी और बैंगनी रंग की तरंगें सबसे छोटी होती हैं। अन्य रंगों की तरंगें भी इन परिसीमाओं के भीतर ही रहती हैं। प्रकाश की तरंग-लम्बाई इतनी छोटी होती है कि इन्हें मि॰ मी॰ के लाखवें अंशों में ही नापा जाता है।

जब सफेद प्रकाश किसी भी वस्तु पर पड़ता है तब प्रकाश की कुछ ही तरंग-लम्बाइयां परावर्तित होती हैं जबकि अधिकांश उस वस्तु द्वारा ही जज़्ब कर ली जाती हैं। जिस रंग की

पराबैंगनी किरणें

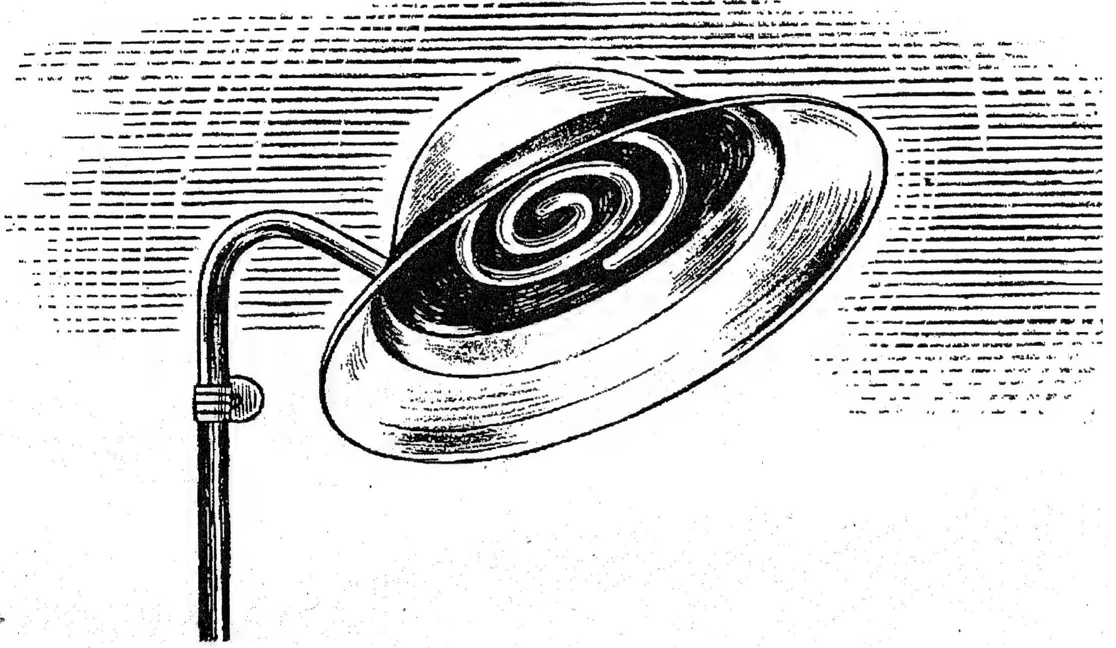
विकिरणें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं जैसे अन्तरिक्षीय किरणें, रेडियो किरणें, गामा किरणें, प्रकाश किरणें, ऊष्ण किरणें, ऐक्स किरणें, पराबैंगनी किरणें आदि-आदि। इन विकिरणों की तरंग लम्बाई असामान्य रूप में व्यापक होती हैं। इनमें सबसे लम्बी रेडियो विकिरणें तथा सबसे छोटी गामा विकिरणें होती है। दृश्य विकिरणों अथवा प्रकाश लहरों की तरंग मध्यम लम्बाई की होती है। ये न अत्यन्त लम्बी और न ही अत्यन्त छोटी होती हैं। वस्तुतः प्रकाश किरणों की तरंग लम्बाई व्यापक रूप से भिन्न-भिन्न होती हैं। प्रत्येक रंग भिन्न-भिन्न तरंग लम्बाई का होता है। दिखाई देने वाली सबसे लम्बी तरंग-लम्बाई लाल प्रकाश की होती है तथा इनसे क्रमवार छोटी तरंग-लम्बाई होती है नारंगी, पीले, हरे, नीले तथा बैंगनी रंगों की विकिरणों की। अतः दिखाई देने वाली सबसे छोटी तरंग-लम्बाई वाली विकिरणें होती हैं बैंगनी रंग के प्रकाश की।

बैंगनी रंग के प्रकाश की तरंग-लम्बाई के साथ-साथ ही सटी हुई होती हैं पराबैंगनी श्रेणी की विकिरणें। सूर्य से निकली ये विकिरणें प्रकाश व गरमी के साथ-साथ केवल लगभग आधी तक ही पृथ्वी पर पहुंच पाती हैं क्योंकि इनमें से अधिकांश पृथ्वी के वायुमण्डल में ही जज़्ब हो जाती हैं। पराबैंगनी रंग की विकिरणें अन्य विकिरणों से छोटी तरंग-लम्बाई की होती हैं तथा इनकी भेदन शक्ति अत्यन्त तीखी व तीव्र होती है। सूर्य से निकली ये पराबैंगनी विकिरणें हमारे शरीर के अन्दर तक भेदन कर नसों तक पहुंचने की क्षमता रखती हैं। कृत्रिम ढंग से पराबैंगनी विकिरणें उत्पन्न करने के लिए आजकल विशेष प्रकार के उपकरण व लैम्प भी उपलब्ध हैं जो विशेष रूप से रोगोपचार में सहायक होते हैं।

यूं तो सूर्य से निकली अधिकांश पराबैंगनी किरणें भूमण्डल के 20 से 35 मील ऊपर ओज़ोन भरे सममण्डल में ही जज़्ब हो जाती हैं, फिर भी इसकी जो भी मात्रा भूमि तक पहुंचती है उसके कई लाभ हैं। उदाहरणार्थ सूर्य से आई पराबैंगनी किरणें हमारे शरीर को विटामिन 'डी' प्रदान करने में अत्यन्त सक्षम हैं। यही कारण है कि लोग प्रायः धूप-स्नान करने में न केवल आनन्द उठाने का प्रयास करते हैं, वरन् विटामिन 'डी' की प्राप्ति हेतु भी धूप-स्नान आवश्यक समझते हैं। ऐसा माना जाता है कि यदि केवल पैरों को ही सूर्य की किरणों से नहलाया जाए तो इसके फलस्वरूप शरीर का रक्तचाप बढ़ जाता है क्योंकि इससे रक्त नलिकाएं कुछ सुकड़ जाती हैं। पराबैंगनी किरणों द्वारा उत्पादित विटामिन 'डी' सीधा हड्डियों के भीतर तक पहुंचकर शरीर को स्वस्थ बनाए रखने में अपना योगदान प्रदान करता है।

धूप-स्नान करने में कुछ सावधानियां अनिवार्य हैं। उदाहरणार्थ अत्यन्त तेज़ व तपती धूप

में धूप-स्नान करना लाभ की बजाए हानिकर ही होता है। इससे शरीर के जलने अर्थात् धूप ताम्रता तक का जोखिम बना रहता है। हमारी त्वचा में 'हिस्ट्रीडिन' नामक एक पदार्थ होता है। पराबैंगनी किरणें इसे प्रभावित कर एक ऐसे पदार्थ में परिवर्तित कर देती हैं जिसके कारण रक्त वाहिकाएं विस्तृत हो जाती हैं और त्वचा का रंग लाल हो जाता है जिसे धूप ताम्रता की संज्ञा दी जाती है। बेहतर यही है कि सामान्य धूप में भी धूप-स्नान करते समय शरीर का कोई भी भाग केवल 5 या 10 मिनटों तक ही धूप के समक्ष रहे ताकि इस पर किसी प्रकार का कोई धूप ताम्रता का प्रभाव न पड़े।



सूर्य की किरणें कई अन्य प्रकार से भी शरीर को स्वस्थ बनाए रखने में सहायक होती हैं। सूर्य की धूप से त्वचा पर बैठे अनेक रोगाणु, फफूंदी आदि भी नष्ट हो जाते हैं। धूप-स्नान त्वचा को निरोगी रखने में अनेक प्रकार से हितकर होता है तथा सूर्य से प्राप्त पराबैंगनी किरणों की उचित मात्रा शरीर को स्वस्थ रखने में अद्वितीय भूमिका निभा सकती हैं।

त्वचा का रंग-रूप प्रदान करने तथा इस रंग को सुरक्षित रखने में भी पराबैंगनी किरणों का ही योगदान रहता है। हमारे शरीर में टायोंसीन नामक पदार्थ होता है। सूर्य से आई पराबैंगनी किरणें इस पदार्थ को भूरे रंग 'मेलानिन' में परिवर्तित करती हैं तथा मेलानिन की यही परत त्वचा की बाहरी सतहों पर जमकर इसे कुछ सांवलेपन का रंग प्रदान करती हैं तथा मेलानिन की यही

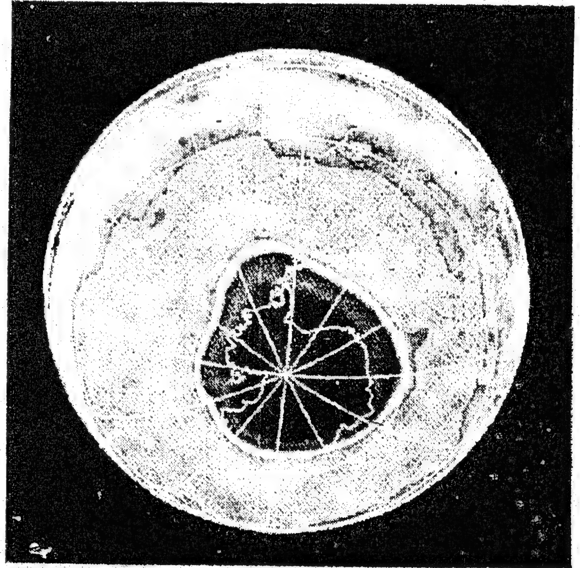
परत शरीर को और अधिक प्रकाश के प्रभाव से सुरक्षित बनाए रखती है। मेलानिन वस्तुतः एक रंग प्रदायिक पदार्थ है जिस पर न केवल शरीर का रंग निर्भर होता है, वरन् सिर के बालों का रंग भी इसी के अनुसार रहता है। यह पदार्थ बालों की कोशिकाओं की जड़ों में स्थित रहता है तथा बालों का रंग इस पदार्थ की मात्रा पर निर्भर करता है। यदि यह पदार्थ अधिक हो तो बालों का रंग गहरा होगा और यदि इसकी मात्रा कम हो तो बालों का रंग उतना ही हल्का होगा। बढ़ती आयु के साथ-साथ इस पदार्थ की मात्रा घटते जाने के कारण बालों का रंग फीका पड़ते-पड़ते अन्ततः सफेद हो जाता है।

सूर्य का प्रकाश एक प्रकार की रोग निवारक औषधि का कार्य करता है। इसकी पराबैंगनी किरणें शरीर में एक रासायनिक परिवर्तन घटित कर विटामिन 'डी' का उत्पादन तो करती ही हैं, इसके अतिरिक्त यह प्रकाश शरीर की संक्रामण विरोधी कोशिकाओं को सक्रिय बनाकर संक्रामिक रोगों का निवारण भी करता है। इतना ही नहीं। सूर्य के प्रकाश से तो शरीर की मांसपेशियां भी सशक्त व स्वस्थ हो उठती हैं तथा स्नायुतन्त्र उत्तेजित हो जाता है। अतः इसमें कोई दो राय नहीं कि सूर्य का प्रकाश औषधि का काम करता है। परन्तु यह भी सत्य है कि किसी भी औषधि का अति अथवा आवश्यकता से अधिक सेवन लाभ की बजाए हानिकारक ही होता है। सूर्य के प्रकाश के विषय में भी यही सत्य है। इसकी अति व तीव्रता से सुरक्षित रहना ही हितकर है।

ओज़ोन परत

ओज़ोन एक विशेष प्रकार की ऑक्सीजन है जिसे ट्राई-ऑक्सीजन या त्रै-ऑक्सीजन की संज्ञा भी दी जाती है। जबकि सामान्य ऑक्सीजन के प्रत्येक अणु में दो ऑक्सीजन परमाणु होते हैं, ओज़ोन के प्रत्येक अणु में तीन ऑक्सीजन परमाणु विद्यमान रहते हैं। अधिकांश रूप में ओज़ोन ऊपरी वायुमण्डल में पराबैंगनी विकिरण द्वारा ही घटित होती है। पराबैंगनी विकिरण के फलस्वरूप ऑक्सीजन के अणु विघटित होकर ऑक्सीजन के परमाणु के रूप में परिवर्तित होते रहते हैं तथा जब ये परमाणु किसी अन्य ऑक्सीजन के अणु में सम्मिलित हो जाता है तब यह ओज़ोन का रूप धारण कर लेता है।

ओज़ोन उत्पत्ति का एक और स्रोत है सूर्य-कलंक। सूर्य-कलंक घटित होने पर एक प्रकार की विद्युतीय शक्ति का विस्फोट होता है जिसके फलस्वरूप विद्युदणु की बढ़ती मात्रा ओज़ोन की मात्रा को बढ़ाती है। ओज़ोन की इस प्रक्रिया से बढ़ी मात्रा वायुमण्डल से और अधिक गरमी जज़्ब करने की क्षमता रखती है जिसके परिणामस्वरूप जलवायु में भी परिवर्तन स्वाभाविक है। ओज़ोन की ऐसी परत पृथ्वी के चारों ओर वायुमण्डल में कोई 20 से 35 कि॰ मी॰ की दूरी के बीच में स्थापित रहती है। इस परत का तापमान लगभग 42° सें॰ ग्रे॰ होता है। इसका कोई रंग नहीं होता, परन्तु अपने तरल आकार में यह गहरे नीले रंग की दिखाई देती है। इसमें तीखी गंध वाली गैस होती है जो विशेष रूप से पराबैंगनी प्रकाश को सोखने की क्षमता रखती है। इस प्रक्रम में सूर्य से निकली 93 प्रतिशत पैराबैंगनी विकिरणें यहीं सोख ली जाती हैं। अतः इनमें से केवल 7 प्रतिशत ही भूमि तक पहुंचती हैं। यह प्राकृतिक नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा घोर विनाश की संभावना बढ़ जाती है। पृथ्वी पर इनकी मात्रा का बढ़ना तथा घटना दोनों ही जीवन के प्रति अहितकर होते हैं।



वायुमण्डल में उपस्थित ओज़ोन की यह परत अत्यन्त हितकर होती है। सूर्य की शक्तिशाली विकिरणों में से कुछ को निस्पन्दित

कर यह पृथ्वी पर जीवन की सुरक्षा करती है। यह परत सूर्य की किरणों की तपिश को कम करने में भी सहायता करती है जिसके फलस्वरूप पृथ्वी पर पड़ने वाली सूर्य की किरणों का तापमान सहने योग्य बना रहता है। यदि यह ओज़ोन परत गायब हो जाए तो पृथ्वी पर इतनी गरमी हो जाएगी कि यहां जीव-जन्तुओं अथवा जीवनधारी प्राणियों तथा पेड़-पौधों आदि का जीवित रहना असम्भव हो जाएगा।

ऑक्सीजन की अपेक्षा ओज़ोन अन्य पदार्थों के साथ अधिक सरलता तथा तेज़ी से घुल-मिल जाती है और कीटाणुओं को तुरन्त ही नष्ट करने की क्षमता रखती है। इसी कारण ओज़ोन का प्रयोग जल के शुद्धिकरण तथा सार्वजनिक स्थानों की स्वच्छता हेतु भी किया जाता है। कई अन्य सामान्य वस्तुओं जैसे कपड़ा, मोम, कागज, आटा आदि को और अधिक विरंजित या सफेद बनाने में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

पृथ्वी पर अन्य कई कार्य करते समय भी ओज़ोन घटित होती है। उदाहरणार्थ बिजली की कड़क के साथ उठने वाले तूफान भी ओज़ोन की उत्पत्ति करते हैं तथा विद्युतीय उपकरणों, एक्सरे आदि के प्रयोग से भी इसका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कभी-कभी ऑक्सीजन की मशाल से किसी धातु के काटते समय भी नीले-नीले रंग की चिंगारियां उठती दिखाई देती हैं जो स्पष्ट रूप से संकेत करती हैं कि इन चिंगारियों द्वारा भी ओज़ोन घटित होती है।

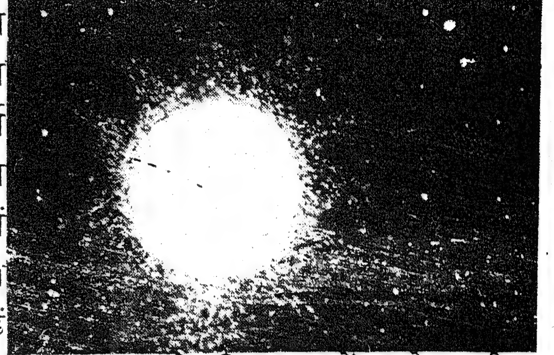
ओज़ोन परत की वायुमण्डल में उपस्थिति तथा पृथ्वी पर इसके विभिन्न उपयोग जीवनोपयोगी हैं। फिर भी अनेक शंकाएं व्याप्त हैं। प्रदूषण की अत्यधिक मात्रा के कारण वायुमण्डल में ओज़ोन परत में छिद्र उत्पन्न हो रहे हैं जिनके परिणामस्वरूप पृथ्वी पर 'पादप-गृह-प्रभाव' अथवा ग्रीनहाउस इफैक्ट के कारण अत्यधिक गरमी का प्रकोप बढ़ता ही जा रहा है जो जीवन के प्रति हानिकारक है। दूसरी ओर अत्यधिक मात्रा में विद्युतीय उपकरणों का उत्पादन व प्रयोग भी अवांछनीय समझा जा रहा है क्योंकि इनके नित्यप्रति बढ़ते हुए प्रयोग के कारण प्राणियों के फेफड़ों के ऊतकों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः ओज़ोन में एक प्रकार की तीव्र विद्युतीय गंध रहती है। यदि इस गंध को अत्यधिक मात्रा में सूंघ लिया जाए, तो यह फेफड़ों के ऊतकों को हानि पहुंचाकर नष्ट तक भी कर सकती है। ओज़ोन की पर्याप्त मात्रा अथवा स्तर बनाए रखने में मानव का दोहरा दायित्व है। प्रथमः, वह कोई भी ऐसा कार्य न करे जिससे वायुमण्डल में स्थापित ओज़ोन परत को कोई हानि पहुंचे और दूसरी ओर यह कि वह उपकरण निर्माण में इसका कोई विकल्प ढूंढे ताकि ओज़ोन के अवांछनीय प्रभाव से सुरक्षित रहा जा सके।

सामान्यतौर पर ओज़ोन के अणु सूर्य द्वारा घटित पराबैंगनी विकिरणों को अधिकांश रूप में अपने में सोखकर व समताप मण्डल के तापमान को बढ़ाकर इसे नीचे भूमि पर आने से रोक

पृथ्वी के जीव-जन्तुओं को सुरक्षा प्रदान करती है। परन्तु फिर भी यह प्रायः माना जाता है कि भूमध्य रेखीय क्षेत्र के ऊपर ओज़ोन की परत अत्यधिक पतली होती है जिसके कारण इस क्षेत्र में पराबैंगनी किरणों का प्रकोप अत्यधिक रहता है जिसके परिणामस्वरूप यहां पर रहने वाले प्राणियों में कैंसर जैसे रोगों का अत्यधिक मात्रा में होने की आशंका सदैव बनी रहती है।

ओज़ोन परत को सर्वाधिक हानि पहुंचती है सी॰ एफ॰ सी॰ अथवा क्लोरो-फोरो-कार्बन यौगिकों द्वारा जिनका उत्पादन दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। ऐसा भय व्यक्त किया जाता है कि यदि इनका उत्पादन इसी गति से होता रहा तो अगले कुछ ही वर्षों में ओज़ोन परत ह्रास भी अत्यन्त तीव्रता से होने की आशंका है। अतः 24 दिसम्बर, 1987 को कैनेडा की राजधानी मोन्ट्रियल में कोई 159 देशों ने बैठक कर सहमति प्रकट की कि 2010 तक सी॰ एम॰ सी॰ के उत्पादन पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया जाए तथा इसका विकल्प खोज ओज़ोन अधिक को सुरक्षित बनाए रखने का प्रयास किया जाए।

सूर्य-कलंक



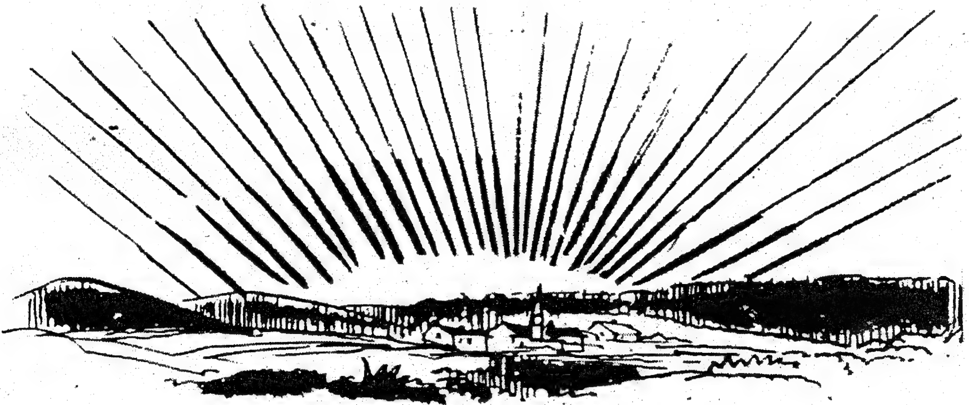
सूर्य के सफेद-सफ़ेद चमकदार तल पर गहरे काले-काले छेदों या धब्बों को ही सूर्य-कलंक या सूर्य-दोष अथवा सनस्पॉट्स कहते हैं ? इन्हें किसी भी साफ़ दिन सूर्य की परत पर देखा जा सकता है। इनको सर्वप्रथम गैलीलियो ने 1610 में दूरबीन द्वारा देखा। इन धब्बों का आकार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। अधिकांश सूर्य-कलंक कुछ ही दिनों के लिए विद्यमान रहते हैं तथा कुछ दो या तीन मास तक बने रहते हैं। इनकी संख्या एक नियमित क्रम में पहले बढ़ती जाती है और बाद में घटती रहती है। यह क्रम लगभग 11 से 21.2 वर्षों तक निरन्तर चलता रहता है। इस 11 वर्षीय क्रम को सूर्य-कलंक चक्र की संज्ञा दी जाती है। अब तक ज्ञात सबसे लम्बा व चौड़ा सूर्य-कलंक लगभग 90,000×60,000 मील का रहा है तथा सामूहिक रूप में कोई 2,00,000 मील का।

सूर्य-कलंक का स्वभाव आख़िर है क्या ? सूर्य-कलंक प्रायः अपने प्राकृतिक स्वरूप में विद्युतीय होते हैं। वे कुछ ऐसे प्रभाव छोड़ते हैं जिनके अन्तर्गत विद्युतमय पदार्थ के बड़े-बड़े चक्रवात के जोड़े सूर्य के भीतरी भाग से उठकर U के आकार की सुरंगों के रूप में फूटकर निकलते दिखाई देते हैं। इस विद्युतीय शक्ति के आगमन से आवेशित ऋणात्मक इलैक्ट्रोन आकाश में उठ खड़े होते हैं तथा इनमें से कुछ पृथ्वी के वायुमण्डल में आकर अपने विशेष विद्युतीय प्रभाव डालते हैं। उदाहरणार्थ उत्तर ध्रुवीय ज्योति अथवा 'आरोरा बोरीलीस' एक ऐसा ही प्रभाव है। सूर्य-कलंकों की विद्युतीय शक्ति रेडियो प्रसारण तक को भी अव्यवस्थित कर सकती है। इनका एक और महत्त्वपूर्ण प्रभाव वायुमण्डल के ऊपरी भाग में ओज़ोन की मात्रा में वृद्धि करना है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव ऋतुक्रम पर भी पड़ता है क्योंकि ओज़ोन का अधिकाय सूर्य की गरमी को आवश्यकता से अधिक मात्रा में जज़्ब करने की क्षमता रखता है। जिसके फलस्वरूप भूमि पर गरमी का प्रकोप भी कम रहता है और प्राणियों का जीवन भी सुरक्षित रहता है ।

उत्तर ध्रुवीय प्रकाश

उत्तर ध्रुवीय ज्योति या 'आरोरा बोरीलीस' तथा दक्षिण ध्रुवीय ज्योति अर्थात् 'आरोरा आस्ट्रालीस' ऐसे दो प्रकार के प्रकाश हैं जो मानव ज्ञान की परिधि से बाहर हैं क्योंकि मनुष्य अभी तक उनके रहस्य को समझ नहीं सका। ये प्रकृति के सर्वाधिक चकित करने वाले दृश्य प्रदान करते हैं। इनको ध्रुवीय ऊषा की संज्ञा भी दी जाती है। यह प्रकाश क्या है तथा यह किस कारण घटित होता है, इस विषय में यद्यपि विज्ञान अभी तक किसी दृढ़ निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि ये किरणें कहीं ऊपरी विरले वायुमण्डल में विद्युतीय विसर्जन के कारण घटित होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये दृश्य पृथ्वी की चुम्बकीय ध्रुवों के केन्द्र के इर्दगिर्द ही प्रदर्शित होते हैं। विशेषकर जब प्रकाश अति चमकीला होता है तब ये चुम्बकीय एवं विद्युतीय अस्त-व्यस्ताएं प्रायः और अधिक होती प्रतीत होती हैं। यह भी विचार है कि ये किसी अज्ञात ढंग से सूर्यदोष या 'सन स्पॉट्स' से भी सम्बन्धित होते दिखाई देते हैं या फिर जब सूर्य विरली गैसों वाले वायुमण्डल से गुज़रता है, तब विद्युतीय विसर्जन के फलस्वरूप ये आतिशबाज़ी जैसे दृश्य दूर ऊपरी आकाश में घटित होते हैं।

वैज्ञानिक परिमाणों के अनुसार प्रकाश के ऐसे विसर्जन पृथ्वी से ऊपर कोई 50 से 100 मील की दूरी तक ही घटित होते हैं। इन विसर्जनों के साथ-साथ आकाश से प्रायः चरचराहट की आवाज़ें भी आती हैं। इन विसर्जनों के फलस्वरूप एक विशाल चमकदार अर्धवक्र चाप भी रात को प्रकाशित होती है जो निरन्तर गतिशील रहती है। कभी-कभी प्रकाश की ये चमकती किरणें पंखे के आकार में ऊपर की ओर फैलती दिखाई देती हैं और कभी-कभी विशाल सर्चलाइटों या खोज बत्तियों के प्रकाश की भांति यत्र-तत्र प्रकाश दमक फैलाती प्रतीत होती हैं या फिर अकस्मात्



ही ऊपर नीचे नाचती दिखाई देती हैं जिस कारण इन्हें 'मैरी डान्सर्स' अर्थात् प्रसन्नचित्त नर्तकों की संज्ञा भी दी जाती है। वस्तुतः दूर उत्तर में यह प्रकाश दीप्ति प्रायः एक ऐसे विशाल, प्रज्वलित वस्त्र विन्यास या रंग-बिरंगे पर्दों के समान दिखाई देती है जो आकाश से लटके हुए प्रतीत होते हैं और इधर-उधर झूमते हुए भी। यह दृश्य अत्यन्त सुन्दर दिखाई देता है, विशेषकर जब लाल, नारंगी, हरे तथा नीले रंग की आग-जैसी पर्दों की परतें ऊपर व नीचे झूलती एवं नाचती दिखाई देती हैं।

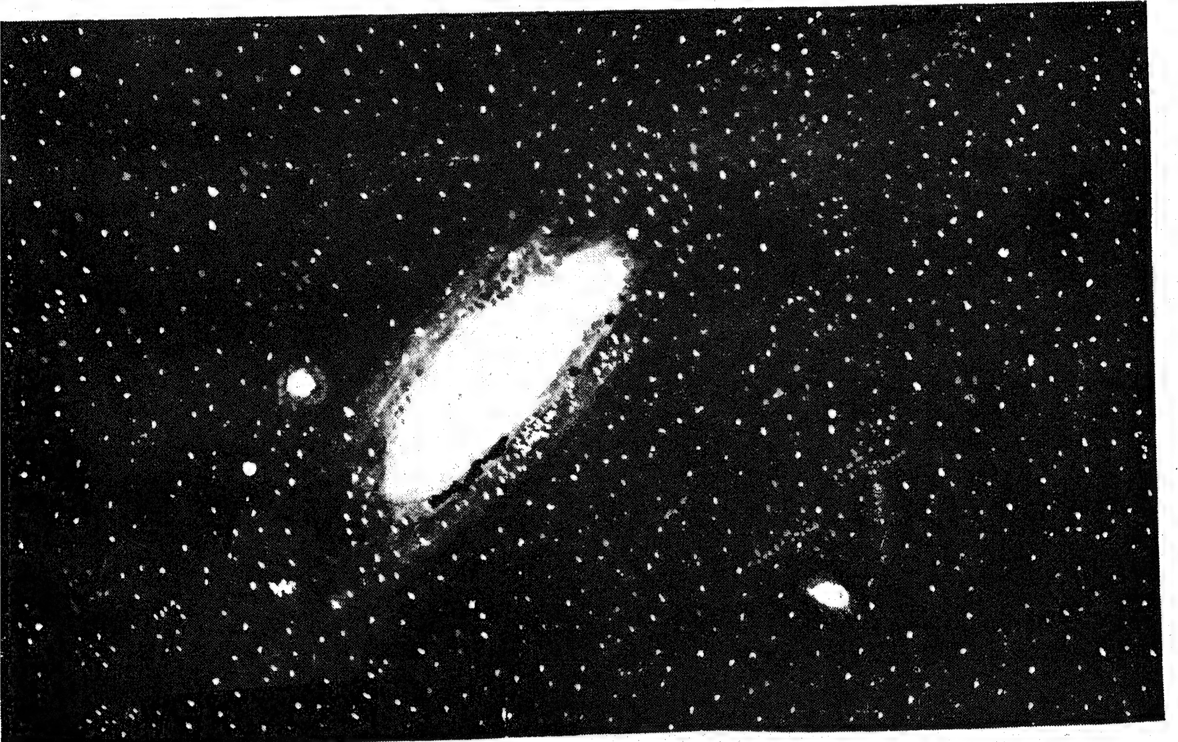
यद्यपि ये प्रकाश दीप्ति-पुंज तारिकाएं उत्तरी ध्रुव में चरम सीमा तक तो प्रकाशमान नहीं होतीं, फिर भी इनका सर्वाधिक सुन्दर दृश्य कैनेडा के हडसन खाड़ी क्षेत्र, उत्तरी स्कॉटलैंड तथा दक्षिणी नॉर्वे व स्वीडन में भी दिखाई देता है। कभी-कभी तो ये प्रकाशपुंज संयुक्त राज्य अमरीका के उत्तरी आकाश के आर-पार चमकती हुई प्रकाश किरणों के रूप में भी दिखाई देते हैं। ऐसा अनुमान है कि ये ध्रवीय ज्योतियां दूर आकाश में प्रायः ऑक्सीजन के परमाणुओं व अणुओं के अन्योन्यक्रिया के कारण घटित होती हैं तथा प्रतीत होता है कि इस प्रक्रिया के अंतर्गत सूर्य से निकले विद्युन्मय कणों के झरने मानो धुवीय चुम्बकीय क्षेत्रों से आकर्षित हो अपने समूचे प्रकाश सहित झिलमिलाते हुए ध्रुवों पर अवतरित हो रहे हों।

नीहारिका

नीहारिका, नेबुला का पर्यायवाची है। नेबुला एक लैटिन शब्द है जिसका अर्थ है आकाशीय कोहरा। इसे सर्वप्रथम केवल एक छोटी-सी दूरबीन द्वारा देखा गया। अधिकांश आकाशीय नेबुला या नीहारिकाएं इतनी धूमिल होती हैं कि वे दूरबीन के बिना देखी ही नहीं जा सकतीं।

नीहारिकाएं मुख्य रूप से दो प्रमुख वर्गों में बांटी जा सकती हैं अर्थात् दुग्ध जैसी सफेद गांगेय निहारिकाएं तथा अन्य अतिरिक्त गांगेय। गांगेय नीहारिकाएं हमारी अपनी ही आकाश गंगा या छाया-पथ में स्थित होती हैं जो धूल व गैस से निर्मित होती हैं। अतिरिक्त गांगेय अपनी आकाशगंगा के बाहर स्थित होती हैं तथा ये प्रायः सितारों से निर्मित होती हैं।

अतिरिक्त गांगेय नीहारिकाएं कई प्रकार की होती हैं। इनमें से कुछ अनियमित अथवा अण्डाकार जबकि अधिकांश चक्रीय प्रकार की होती हैं। हमारी आकाशगंगा की तरह ये कुंडलीदार नेबुला अनेक सितारों, विशाल गैसीय बादलों तथा धूल के विस्तृत खण्डों से निर्मित होते हैं। इन नीहारिकाओं के केन्द्र में प्रायः एक नाभि होती है जहां से इनकी समस्त भुजाएं चक्रीय रूप में फैलती चली जाती हैं।



यदि आकाशगंगा को कहीं बाहर निकालकर देखा जाए तो ये भी नेबुला की तरह ही दिखाई देंगी। अतः इन अतिरिक्त गांगेय नीहारिकाओं को भी कभी-कभी आकाशगंगाएं अथवा द्वीप ब्रह्माण्ड कहा जाता है। गांगेय नेबुला की कुल संख्या 2,000 के करीब है। अतिरिक्त गांगेय नेबुला अनन्त हैं जो सब आकाशगंगा की परिसीमाओं के बाहर विशाल आकाश में स्थित हैं।

ऐन्ड्रोमेडा नामक चक्रीय नेबुला ज्ञात नेबुलाओं में विशालतम माना जाता है तथा यह पृथ्वी के भी सबसे निकट है।

धूमकेतु

प्रज्वलित दुमदार पिण्डों को धूमकेतु अथवा कॉमेट कहते हैं। ये आकाश में कभी-कभार ही दिखाइ पड़ते हैं। यह किसी भी ठोस पदार्थ से निर्मित नहीं होते। ऐसा माना जाता है कि ये छोटे-छोटे सूक्ष्म ठोस कणों के आकार में धूल व गैसों के तूफ़ानों के रूप में उठते हैं। भले ही वे प्रत्यक्ष रूप में सुन्दर व ठोस आकार में आकाश में चमकते दिखाई देते हों, अधिकांशतः ये गैस व धूल के सूक्ष्म से कण ही होते हैं। प्रकट होते समय धूमकेतु सर्वप्रथम प्रकाश के सूक्ष्म बिन्दु के आकार में ही दिखाई पड़ता है, चाहे इसका व्यास हजारों मील का ही क्यों न हो। यह प्रकाश-बिन्दु ही धूमकेतु या पुच्छल तारे की नाभिका होती है। इसे ही धूमकेतु का शीर्ष भी कहते हैं। इस शीर्ष को धूमकेतु के 'कोमा' की संज्ञा भी दी जाती है। इस शीर्ष या कोमा पर चमकती गैसों के विशाल बादल अथवा धुंधले बर्फ समान इतने हल्के गोले से होते हैं जिन्हें सूर्य की वायु सहज ही उड़ा ले जाती है और जैसे-जैसे सूर्य की विकिरणें इनके आर-पार होती हैं, ये गैसें आयनीकृत होकर प्रकाश से प्रज्वलित हो जाती हैं। वस्तुतः किसी भी धूमकेतु के तीन प्रमुख भाग होते हैं। पहला इसका व्युक्लियस अथवा केन्द्रबिन्दु जो बर्फ व धूल से निर्मित होता है। इसे प्रायः 'डर्टी स्नोबाल' या कलंकित हिमकन्दुक की संज्ञा भी दी जाती है जिसका व्यास एक मील से लेकर हज़ारों मीलों तक लम्बा हो सकता है। गैस व धूल रूपी 'कोमा' इसका दूसरा भाग है और तीसरा भाग है इसकी दुम जो इसके सूर्य के निकट आने पर ही प्रकट होती है । इसके कोमा का व्यास भी एक से डेढ लाख कि॰ मी॰ तक का होता है और दुम भी कोई 10 कि॰ मी॰ की।



ऐरिजोना से दिखने वाला एक धूमकेतु

जब सौर वायु इन गैसों को ठंडा कर वापिस लाती है, तब धूमकेतु की दुम बनती प्रतीत होती है। ज्यों-ज्यों धूमकेतु सूर्य के निकट आता-जाता है, त्यों-त्यों इसकी दुम लम्बी, और लम्बी होती चली जाती है क्योंकि बढ़ती हुई

सौर वायु का दबाव क्रमशः अधिकतर होता चला जाता है। अतः ज्यों-ज्यों धूमकेतु सूर्य से दूर आकाश की शीतलता में पहुंचता चला जाता है, त्यों-त्यों सौर वायु का दबाव भी गैसों के विरुद्ध तीव्र होता चला जाता है। यही कारण है कि धूमकेतु की दुम सदा ही सूर्य की विपरीत दिशा में संकेतरत रहती है।

दूसरे शब्दों में, ज्यों-ज्यों धूमकेतु सूर्य के निकट पहुंचता है, त्यों-त्यों इसकी पूंछ प्रकट होती है। सूर्य के प्रभाव क्षेत्र में आने से धूमकेतु के केन्द्रबिन्दु से अत्यन्त सूक्ष्म गैस एवं द्रव्य के चमकदार कण दुम के आकार में उठ खड़े होते हैं। ज्यों-ज्यों इस पूंछ की लम्बाई व चमक बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों यह सूर्य के निकट आता जाता है। परन्तु सूर्य की रोशनी के दबाव के फलस्वरूप ये सूक्ष्म-कण धूमकेतु के शीर्ष को अत्यधिक प्रज्वलित करते हुए सूर्य की विपरीत दिशा में एक लम्बी दुम बनाते दिखाई देते हैं। अतः जब धूमकेतु सूर्य से दूर जाता दिखाई देता है, तब इसकी दुम आगे-आगे ही चलती है। इसकी गति धीरे-धीरे कम हो जाने पर धूमकेतु दृष्टि से ओझल हो जाता है। यद्यपि धूमकेतु कई वर्षों तक आंख से ओझल रहते हैं, फिर भी कभी न कभी उन्हें दोबारा सूर्य के सामने आना ही होता है।

धूमकेतु भी सौर परिवार के सदस्य हैं। ये भी सूर्य के इर्द-गिर्द अपने पथ पर अनियमित रूप से चक्कर पर चक्कर काटते रहते हैं। उनको अपना यह चक्कर पूरा करने में कभी-कभी तो हज़ारों वर्ष लगते हैं क्योंकि उनका परिक्रमा पथ अत्यन्त लम्बा होता है। उदाहरणार्थ, 'एन के' नामक धूमकेतु प्रत्येक तीन वर्षों के अन्तराल पर पुनः दिखाई देता है, हैलीज़ नामक धूमकेतु 76 वर्षों में अपनी परिक्रमा सम्पूर्ण कर फिर प्रकट हो उठता है। पिछली बार यह 1910 व 1986 में प्रकट हुआ। यह सूर्य के इर्द-गिर्द उल्टी दिशा में चक्कर काटता है। निरन्तर निश्चित काल बाद दिखाई देने वाले धूमकेतुओं को आवर्ति धूमकेतु की संज्ञा दी जाती है। जब कोई धूमकेतु लम्बे काल के लिए अदृश्य रहता है तो प्रायः यह समझा जाता है कि यह लुप्त हो गया है। वस्तुतः न ही यह लुप्त होता है न ही नष्ट। यह भी कहा जाता है कि ग्रहों के गुरुत्वाकर्षण के परिणामस्वरूप कुछ धूमकेतु अपने नियमित पथ से भटककर छोटा पथ अपना लेते हैं और दूसरे ग्रह क्षेत्र में स्थानान्तरित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, बृहस्पति ग्रह ने इस प्रक्रम में अनेक धूमकेतु एकत्र कर लिए हैं।

धूमकेतुओं की पूंछ आकार व परिमाण में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। कुछ छोटी एवं खूंटीदार और कुछ लम्बी व पतली-सी। इनकी लम्बाई कम से कम 50 लाख मील होती है तथा कभी-कभी दस करोड़ मील लम्बी भी। कुछ धूमकेतु बिना दुम के भी होते हैं। यद्यपि अब तक लगभग एक हज़ार धूमकेतुओं की सूची बनाई जा चुकी है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि

सौरमण्डल में अनन्त धूमकेतु हों सकते हैं, जिनको जानना व पहचानना विज्ञान के लिए अत्यन्त रोचक विषय है।

कभी ऐसा भी समय था जब धूमकेतु देखना अपशगुन माना जाता था तथा इन्हें कई प्रकार के संक्रामक रोगों, युद्ध, मृत्यु आदि का संकेतक समझा जाता था। रूढ़िवादी आज भी इन्हें इसी प्रकार की मुसीबतों का द्योतक मानते हैं।

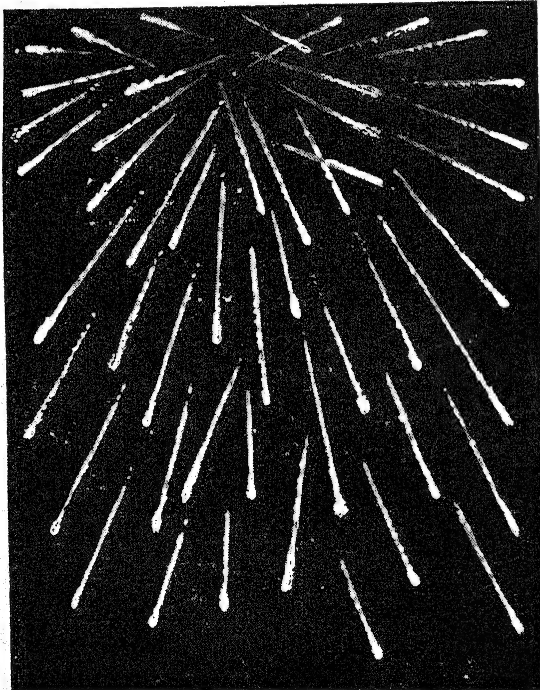
यह भी सत्य है कि कुछ न कुछ धूमकेतु तो सदा के लिए भी अदृश्य हो जाते हैं; विशेषकर जब वे टूट-टूटकर इतने छोटे हो जाते हैं कि उनको देखना सम्भव नहीं रहता। वे टूट-टूटकर उल्का-धूल के आकार अपना लेते हैं। इस प्रकार यद्यपि कुछ धूमकेतु तो अन्ततः अपना रूप परिवर्तित करते हैं, परन्तु इनका विस्फोट कदापि नहीं होता।

उल्का

तथाकथित गिरते हुए सितारे या गोली की भांति चलने वाले सितारे वस्तुतः सितारे नहीं होते। वे तो 'मीटियोर' अर्थात् उल्का नामक छोटे-छोटे ठोस पिण्ड से होते हैं जो आकाश में यात्रा करते रहते हैं। जब वे पृथ्वी के वायुमण्डल से गुज़रते हैं तब वे जलती हुई आग जैसी प्रकाश की लकीर छोड़ते जाते हैं। यह प्रकाश रेखा इनकी पृष्ठ और वायु के बीच रगड़ अथवा घर्षण की गरमी के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।

क्योंकि इनमें से अधिकांश उल्का अत्यन्त छोटे, यहां तक कि, पिन के सिर के समान सूक्ष्म होते हैं, अतः वे इस घर्षण की गरमी के कारण सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। कुछ बड़े उल्का के खण्ड कभी-कभार भूमि तक भी पहुंच जाते हैं। परन्तु पृथ्वी का अधिकांश भाग जल से ढका होने के कारण वे सब प्रायः सागर, नदी आदि के जल में ही गिरते हैं। जब कभी इसका कोई खण्ड भूमि पर पहुंचता है, तो इसे 'मीटियाराईट' अथवा उल्काष्म की संज्ञा दी जाती है। यह प्रायः भूमि के आकर्षण अर्थात् गुरुत्वाकर्षण के फलस्वरूप ही पृथ्वी पर गिरता है।

यूं तो कोई भी उल्का अकेला ही आकाश में किसी भी दिशा में जाता दिखाई दे सकता है, परन्तु वास्तविकता यह है कि उल्का प्रायः हजारों के झुंडों में घटित होते हैं। जब कभी यह समूह पृथ्वी की सूर्य परिक्रमा के दौरान वायुमण्डल की उपरी परतों से रगड़ खाते आग जैसे गरम होकर प्रकाश से चमकते दिखाई देते हैं, तब उल्का के इस समूह को उल्कावृष्टि अथवा 'मिटियारिक शावर' की संज्ञा दी जाती है। कुछ वैज्ञानिक तो इन्हें धूमकेतु से संबंधित भी कहते हैं क्योंकि जब कभी धूमकेतु अर्थात् पुच्छल तारा आकाश में प्रकट होता है, तभी इनमें से कुछ के रहने मात्र से ही उल्कावृष्टि अथवा उल्काधूल की मात्रा अत्यधिक हो जाती है। इन उल्काओं को गोली की तरह भागते हुए तारे या धूमकेतु खण्ड भी कहते हैं। ये हज़ारों-लाखों की संख्या में अपने पथ पर



प्रतिदिन करोड़ों उल्काएं पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करती है

आकाश में चलते रहते हैं और कभी-कभी अकेले भी।

उल्का को खगोलीय धूल भी कहा जाता है। ये प्रायः वायुमण्डल में 50 से 100 कि॰ मी॰ के बीचोंबीच ही दिखाई देते हैं तथा 15 कि॰ मी॰ की दूरी पर आकर यह प्रायः जलना बन्द कर देते हैं। यहां वायुमण्डल के घना होने के कारण इनकी गति भी धीमी हो जाती है। पृथ्वी पर गिरने से पूर्व इनकी गति 30 से 40 कि॰ मी॰ प्रति सैकन्ड होती है। क्योंकि पृथ्वी की अन्तरिक्ष में गति भी केवल 30 कि॰ मी॰ प्रति सैकन्ड होती है, इसके विपरीत से आने वाले उल्का की गति अधिक से अधिक 70 कि॰ मी॰ प्रति सैकन्ड तक हो जाती है।

उल्का के कुछ नमूने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका तथा अमरीका में न्यूयॉर्क के संग्रहालय में उपलब्ध हैं। इनमें सबसे बड़ा उल्का 60 से 70 टन और दूसरा 40 से 50 टन का है। ऐसे छोटे-बड़े लगभग 2,500 नमूने अब तक उपलब्ध हुए हैं। पत्थर व चूने के अतिरिक्त इनमें मुख्य रूप से लोहा, निकिल, अल्युमिनियम, गंधक आदि पाया जाता है। इनमें से कुछ धातु तथा कुछ अन्य पत्थर के बने हैं। बाहर से ये सब कोयला समान ही दिखाई देते हैं।

कोई समय था जब यह समझा जाता था कि उल्का किसी अन्य दुनिया से आते हैं। परन्तु आज यह माना जाता है कि ये हमारे सौरमण्डल के ही भाग हैं, चाहे वे पृथ्वी से परे इसके बाह्य छोर या बाह्य जगत में ही क्यों न घटित होते हों।

उड़न तश्तरी

उड़न तश्तरियां कुछ ऐसे रहस्यमयी तथ्य हैं जिनके विषय में कई प्रकार की परिकल्पनाएं विद्यमान हैं। कुछ लोग तो इनके अस्तित्व पर ही संदेह करते हैं। फिर भी बहुत से लोग इनके बारे में लिखते व चर्चा करते हैं तथा इन्हें देखने का दावा भी करते हैं। कुछ लोगों ने चपटी तश्तरियां देखी हैं तो कुछ ने गोलाकार, लम्बी एवं गुंधी हुई चिपचिपी। वे अपने आकार एवं रंगों में भी भिन्न-भिन्न बताई गई हैं। कुछ का देखते ही देखते रंग बदल जाता है। वे प्रत्येक दिशा में और किसी भी गति से सीधी ऊपर, सीधी नीचे, समकोण बनाती हुई और टेढ़े-मेढ़े पथ पर भी चल सकती हैं। वे शान्त होकर वायु में लटक सकती हैं या फिर गर्जन एवं सांप जैसी भयानक ध्वनि भी उत्पन्न कर सकती हैं। कुछ लोग इन्हें अन्तरिक्ष यान भी कहते हैं तथा कुछ उपग्रह, उल्का, तारा, धूमकेतु, ग्रह, बादल तथा पक्षी की भी संज्ञा देते हैं। कुछ इन्हें अग्नि के गोले तथा आतिशबाजी के टुकड़े या फिर ऋतु सम्बन्धी गुबारे भी मानते हैं।

आखिर उड़न तश्तरियां हैं क्या ? इस विषय में अभी तक कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी। कुछ लोग तो इन्हें दूसरे लोकों से आए हुए बुद्धिजीवी भी मानते हैं जो समय-समय पर पृथ्वी पर आक्रमण करते रहते हैं। इन्हें 'सन डाग्ज़' की संज्ञा भी दी जाती है, कभी-कभी ऋतु जानने के लिए छोड़े गये गुब्बारों को भी उड़न तश्तरी ही समझा जाता है। क्योंकि इनके विषय में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं, अतः इन्हें अज्ञात उड़ती हुई वस्तुएं भी कहा जाता है। कभी-कभी ये आकाश में बिजली चमकने पर भी दृष्टिगोचर होती हैं या फिर आकाश वाहन के रूप में भी प्रकट होती दिखाई देती हैं। इनका अस्तित्व अभी तक एक रहस्य ही बना हुआ है।



रेडियो खगोल विज्ञान

सूर्य, चन्द्रमा, उल्काओं, ग्रहों आदि का अध्ययन ही रेडियो खगोल विज्ञान कहलाता है। उल्काओं से लौटती किरणें उनके यात्रा-कक्ष के विषय में जानकारी प्रदान करती हैं जबकि चन्द्रमा से लौटती किरणें इसकी सतह के विषय में ज्ञान कराती हैं। उदाहरणार्थ, मानव द्वारा चन्द्रमा पर उतरने से पहले ही रेडियो खगोल विज्ञान द्वारा यह स्थापित हो चुका था कि चन्द्रमा की सतह पर पिसी हुई चट्टानों की परतें हैं। इस विधि से अर्थात् रेडियो संकेतों को ऊपर आकाश अथवा अन्तरिक्ष में प्रसारित करने तथा इन्हें उल्काओं, चन्द्रमा आदि पर से परावर्तित कर वापस प्राप्त करके, इन पिण्डों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना सहज व सुलभ होता दिखाई देता है। यही सिद्धान्त, रडार तथा अन्य कृत्रिम उपग्रहों आदि के कार्य करने में भी प्रयुक्त होता है। रडार की रेडियो तरंगें तो चन्द्रमा तक से परावर्तित हो, चन्द्रमा के विषय में काफ़ी कुछ ज्ञान प्रदान कर चुकी हैं।

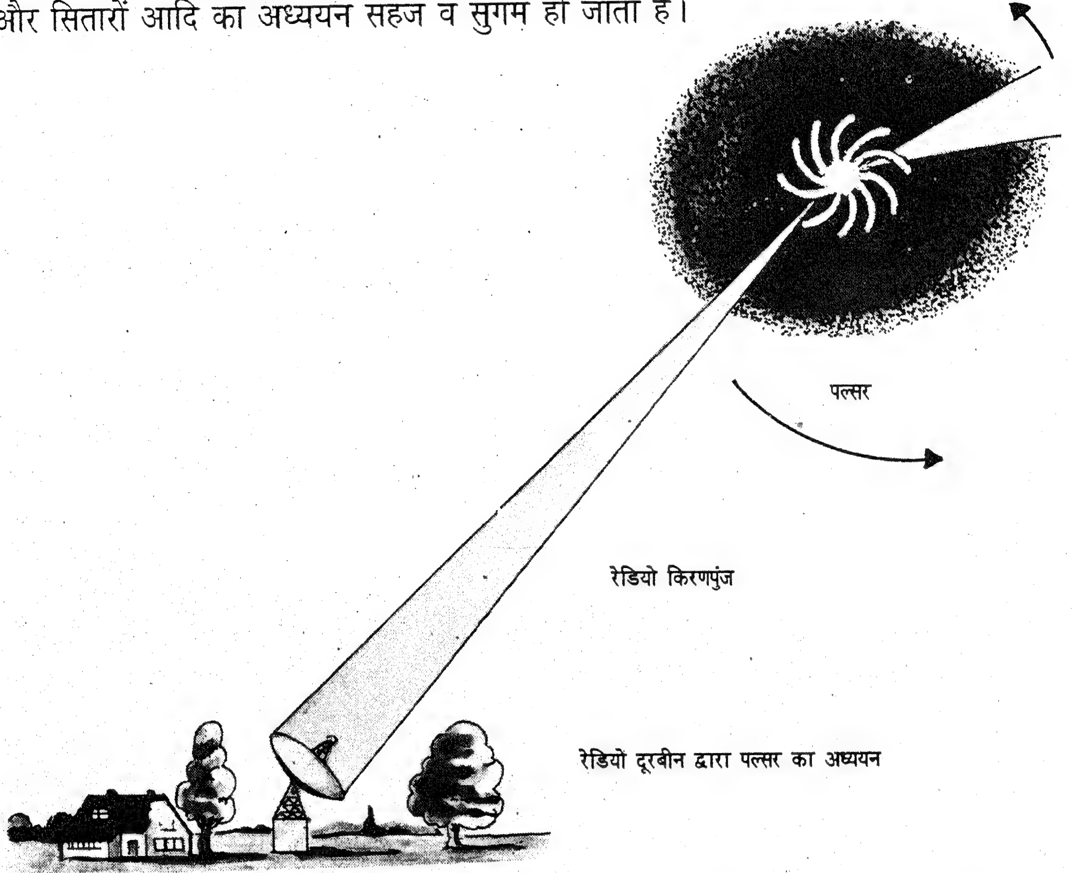
रेडियो खगोल विज्ञान का एक और भी प्रारूप है जिसमें एक विशेष प्रकार के ऐन्टीना या एरियल अर्थात् विद्युतग्राहक द्वारा आकाश स्थित पिण्डों व पदार्थों से आ रहे विकिरण-संकेतों को प्राप्त कर उनके विषय में विशिष्ट सूचना एकत्र की जा सकती है। इनमें कुछ विकिरणें, पदार्थों के ग़रम होने से, रेडियो फ्रीक्वैन्सी वेज़ अर्थात् रेडियो आवृत्ति तरंगों के रूप में उपलब्ध होती हैं और कुछ श्रव्य संकेतों के रूप में भी इनकी उत्पत्ति का स्रोत पदार्थों के गरम होने में निहित नहीं होता।

रेडियो खगोल विज्ञान का जन्म अकस्मात् ही 1931 में बेल नामक प्रयोगशाला में हुआ जब दूरभाष पर सागर पार कहीं बाहरी आकाश से कुछ संकेत प्राप्त हुए। यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य एवं हर्ष हुआ कि ये संकेत-विकिरणें कहीं दूर आकाशगंगा से प्राप्त हो रही हैं। उस समय से ही रेडियो खगोल विज्ञान रूपी एक नवीन प्रकार के विज्ञान की खोज आरम्भ हुई।

रेडियो खगोल विज्ञान की खोज का आज अत्यन्त उत्साहवर्धक एवं महत्त्वपूर्ण योगदान प्राप्त है क्योंकि इसका अधिक से अधिक प्रयोग सौरमण्डल के बाहर स्थित अन्य ब्रह्माण्डों से सूचना एवं ज्ञान प्राप्त करने हेतु खोज में हो रही है। आज एक ऐसी रेडियो-दूरबीन का भी विकास हो चुका है जिसके द्वारा एक करोड़ खरब मील की दूरी पर से भी संकेत एकत्रित किए जा सकते हैं। इन संकेतों की रेडियो बारम्बारता लगभग 1,420 मैगासाईकल तक की हो सकती है। बाहरी आकाश की प्राकृतिक हाईड्रोजन भी इस बारम्बारता की रेडियो शक्ति को ही उत्सर्जित करती है।

रेडियो-दूरबीनें सभी प्रकार की ऋतुओं में कारगर व कार्यरत रहती हैं तथा इन्हें कहीं भी स्थापित किया जा सकता है। सामान्य रूप में इन्हें ऊंचे टीलों या पर्वतों पर ही स्थापित किया जाता है। रेडियो खगोलशास्त्री इस विशेष यंत्र द्वारा रेडियो तरंगों को हर समय कागज़ पर अंकित

करते रहते हैं जिससे उनके लिए भिन्न पिण्डों, सितारों आदि के विषय में ज्ञान प्राप्त तथा एकत्रित करना सहज हो जाता है तथा यह सूचना स्थाई रूप में उपलब्ध रहती है। क्योंकि बाहरी आकाश से प्राप्त रेडियो तरंगें लम्बाई में छोटी होती हैं, अतः इन्हें प्राप्त करने हेतु विशेष प्रकार के ऐन्टीना तथा दूरबीन का प्रयोग किया जाता है जिससे प्रकाश तरंगें बड़ी-बड़ी होकर एकत्रित की जाती हैं और सितारों आदि का अध्ययन सहज व सुगम हो जाता है।



रेडियो दूरबीन द्वारा पल्सर का अध्ययन

रेडियो संकेत प्रायः दो प्रकार के होते हैं—तापमापन विकिरणें तथा ध्वनि विकिरणें—ये दोनों रेडियो संकेतों के रूप में ही परावर्तित होते रहते हैं तथा खगोलशास्त्रियों को खगोल विज्ञान संबंधी अनुसंधान में सहायक होते हैं।

रेडियो खगोलशास्त्र रेडियो तरंगों तथा रेडियो चित्रों की कार्यक्षमता पर आधारित होता है। ये दोनों ही ब्रह्माण्ड के विषय में ज्ञान प्रदान करने में विशेष भूमिका निभाते हैं। जिस प्रकार ध्वनि, ऊष्मा व प्रकाश की तरंगें शून्य अथवा आकाश में यात्रा करती हैं, ठीक उसी प्रकार रेडियो तरंगें भी प्रसारित व परिवर्तित होती हैं, अन्तर केवल इतना है कि रेडियो तरंगों की बारम्बारता अपेक्षाकृत

बहुत उच्च होती है। आकार में ये जल की तरंगों के समान अपने स्रोत के चारों ओर सभी दिशाओं में विकिर्णित हो सभी स्थानों पर अपने सूक्ष्म स्वरूप में विद्यमान रहती हैं तथा रेडियो के स्विच खुलने पर सूक्ष्म-सी ध्वनि से कई गुना बढ़कर प्रस्तुत हो उठती हैं। यूं तो सभी रेडियो तरंगें 1,86,000 मील प्रति सैंकिड की दर से यात्रा कर सकती हैं, फिर भी उनकी तरंगों की बारम्बारता व्यापक रूप से भिन्न-भिन्न होती हैं। यह बारम्बारता इस बात पर निर्भर करती है कि एक सैकिंड में इसकी कितनी तरंगें अथवा कितनी पूरी तरंगें लम्बाइयों के चक्र घटित होकर किसी निश्चित बिंदु से पार होते हैं। तरंग चक्रों की यह संख्या ही इसकी तरंग बारम्बारता कहलाती है। यदि तरंग-लम्बाई छोटी हो तो ये तरंगें अति निकट-निकट ही रहती हुई तेजी से एक-दूसरे के पीछे भागती हैं तथा उनकी बारम्बारता भी अधिक व उच्च होगी। यदि तरंग-लम्बाई बड़ी होगी तो ये तरंगें व्यापक फैलकर धीरे-धीरे एक दूसरी का पीछा करती हैं तथा इनकी बारम्बारता भी कम ही रहेगी। अतः उच्च बारम्बारता वाली तरंगों का परिमाप किलो साईकलों अथवा हज़ार तरंग चक्रों प्रति सैकिण्ड की दर से नापा जाता है।

रेडियो तरंग प्रसारण को व्यवस्थित करने के लिए दो मौलिक यन्त्रों अर्थात् ऐन्टीना तथा रिसीवर की आवश्यकता रहती है, जिसके फलस्वरूप प्राप्त ध्वनि या प्रकाश रेखाओं वांछित मात्रा में ऐम्पलीफायर द्वारा बढ़ा-चढ़ाकर सुना व देखा जा सकता है। इस सिद्धांत पर अन्य ग्रहों व सितारों से प्राप्त संकेतों को प्रसारित व परावर्तित होते रेडियो तरंगों, रेडियो टैलीस्कोप, कृत्रिम उपग्रहों या सैटेलाईटों पर लगे यन्त्रों तथा रेडियो ख़गोल विज्ञान के अनेक प्रकार के विशिष्ट यन्त्रों आदि के माध्यम से ब्रह्माण्ड के अनेक रहस्यों की जानकारी उपलब्ध की जा रही है जैसे सितारों की बनावट, गति, चमक, रंग, ताप आदि-आदि। क्योंकि ब्रह्माण्ड के रहस्य असीम व अपार हैं, अतः इस खोज का भी अनन्त काल तक निरन्तर चलते रहना स्वाभाविक ही है।

लगभग 1941 में रडार की खोज भी अकस्मात् ही, गुब्बारे की उड़ान के दौरान, इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर हुई। जैसाकि इसके नाम से ही विदित है इसे 'रेडियो डिक्टेशन एण्ड रेंजिंग' तथा संक्षिप्त में रडार, रेडार या 'राडार' की संज्ञा दी गई ? दूसरे विश्वयुद्ध में सुरक्षा तथा प्रतिरक्षा हेतु इसका भरपूर प्रयोग हुआ। युद्धयानों का नियन्त्रण, युद्ध मिसाईलों के दिशा व लक्ष्य निर्देशन, इस प्रकार के आक्रमणों की सही-सही टोह रखना, वातावरण सम्बन्धी सूचना प्राप्त व प्रसारित करना, ऋतु, परिवर्तन, वर्षा, आंधी, तूफान की खबर रखना, शत्रु के यानों, ठिकानों आदि की टोह व दूरी का सही-सही अनुमान रखना, खगोल पिण्डों के विषय में सूचना प्राप्त करना आदि अनेक प्रकार के कार्य रडार की सक्षमता के अंतर्गत आते हैं। इन सबका नियंत्रण रडार केन्द्रों द्वारा नियोजित किया जाता है जो भिन्न प्रकार के यन्त्रों से सुसज्जित रहते हैं जैसे ट्रांसमीटर, एरियल, प्रसारण व ग्राही उपकरण आदि।

षष्ठक

षष्ठक या सैक्सटैंट एक ऐसा यन्त्र है जिसके द्वारा किसी भी स्थान से सूर्य, चन्द्रमा, ग्रहों तथा अन्य सितारों की स्थिति को नापा जाता है। इसका प्रयोग प्रायः नौ-चालकों अथवा विमान-चालकों द्वारा किया जाता है। इसका आकार पाई (pie) के किनारे जैसा गोल होता है, जिस पर मापक्रम अंकित रहता है। इसके एक सिरे पर घूमने वाली एक सुई होती है और एक चल दर्पण भी लगा होता है। षष्ठक पर दूरबीन तथा दूरबीन के मुख पर भी एक दर्पण स्थापित रहता है। इस दूरबीन के द्वारा दूर क्षितिज में देखने तथा दर्पण को इस प्रकार सरकाने से, कि इसके द्वारा परावर्तन क्षितिज के समतल आ जाए, मापक्रम पर देखे गए पदार्थ अथवा पिण्ड की ऊंचाई एवं स्थिति प्रदर्शित हो जाती है।

समुद्र तल पर सूर्य, चन्द्रमा तथा सितारों की स्थिति के अवलोकन से उस स्थान के अक्षांश एवं देशान्तर रेखांश का पता लगाया जा सकता है। दोपहर के समय सूर्य की ऊंचाई आंकने से अमुक स्थान की अक्षांश स्थिति का पता चलाया जाता है। देशान्तर रेखांश को नापने के लिए यान पर समय की तुलना ग्रीनविच समय के अनुसार की जाती है। यदि यह समय ग्रीनविच समय से पूर्व हो तो यान ग्रीनविच के पश्चिम में है और यदि यह ग्रीनविच समय से आगे हो तो यान की स्थिति ग्रीनविच के पूर्व में है। इन समयों में अर्थात् ग्रीनविच एवं अमुक स्थान के समयों में यदि यह अन्तर एक घंटे का हो तो 15° देशान्तर रेखांश का अंतर आंका जाता है जिसका अर्थ है कि इन समयों में प्रत्येक चार मिनट का अन्तराल एक डिग्री देशान्तर रेखांश के अन्तर के समान है। अतः किसी भी स्थान का समय तथा वहां का अक्षांश एवं देशान्तर रेखांश उस स्थान की स्थिति को ठीक प्रकार से दर्शाने की क्षमता रखते हैं जो सैक्सटैंट अर्थात् षष्ठक की सहायता से सुगमता से जानी जा सकती है। देशान्तर रेखांश जानने से यह पता चलता है कि अमुक वस्तु, स्थान अथवा पिण्ड ग्रीनविच से कितने अंश पूर्व या पश्चिम में है जबकि अक्षांश से यह पता चलता है कि अमुक स्थान, वस्तु या पिण्ड भूमध्य रेखा से कितनी दूर उत्तर अथवा दक्षिण में स्थित है।

वस्तुतः 1884 ई. से पृथ्वी को 24 क्षेत्रों में बांटा जा चुका है तथा प्रत्येक क्षेत्र 15° देशान्तर रेखांश का प्रतिनिधित्व करता है। पृथ्वी का यह प्राकृतिक खण्ड विभाजन पृथ्वी के घूर्णन दर की ओर संकेत करता है क्योंकि पृथ्वी प्रत्येक घंटे में 15° देशांतर रेखांश की दर से घूमती है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक क्षेत्र तथा इसके अगले क्षेत्र में समय अन्तराल ठीक एक घंटा और देशान्तर रेखांश का अन्तर 15° होता है। अतः जब ग्रीनविच में दोपहर के बारह का समय होता है तब



इसके पूर्व स्थित क्षेत्र में समय एक बजे अपराह्न होता और इसके पश्चिम स्थित अगले क्षेत्र में समय दिन के ग्यारह बजे का होगा।

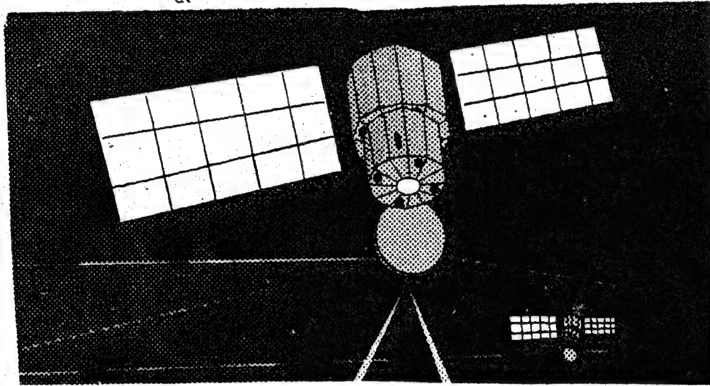
इसी प्रकार ग्रीनविच के विरुद्ध क्षेत्र में एक अन्तर्राष्ट्रीय दिनांक रेखा लगभग 180वें मरीडियन पर अंकित कर पूर्व से पश्चिम व पश्चिम से पूर्व जाते हुए इस अन्तर्राष्ट्रीय रेखा पर दिन का समय स्थितिवत घटा या बढ़ा लिया जाता है ताकि समय में सन्तुलन बनाया रखा जा सके।

इस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा व सितारों की स्थिति का अवलोकन कर पृथ्वी, सागर अथवा वायुमण्डल में किसी भी स्थान, पिण्ड एवं वस्तु की स्थिति को आंकने में षष्ठक अथवा सैक्सटैंट महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है। इस क्रम में जब ग्रीनविच पर दोपहर के बारह बजते हैं तब अन्तर्राष्ट्रीय दिनांक रेखा पर रात के बारह बजे होते हैं। इन सब स्थितियों के समक्ष सैक्सटैंट का प्रयोग कारगर रहता है।

कृत्रिम उपग्रह

खगोल विज्ञान के अनुसार यदि कोई पिण्ड किसी अन्य बड़े पिण्ड की निरन्तर परिक्रमा करता रहे तथा बड़ा पिण्ड छोटे पिण्ड को अपने गुरुत्वाकर्षण से अपने इर्द-गिर्द नियमित परिक्रमा क्रम में बनाए रखे तो इसे उपग्रह कहा जाता है। उदाहरणार्थ पृथ्वी व अन्य ज्ञात ग्रह सूर्य के उपग्रह हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है। अन्य ग्रहों के उपग्रह भी इसी श्रेणी में आते हैं। ये सब तो प्राकृतिक ग्रह-उपग्रह हैं।

परन्तु आज मानव-निर्मित कृत्रिम उपग्रह अथवा सैटेलाईट भी खगोल में सुनिश्चित समय व उद्देश्य सिद्धि हेतु स्थापित किए जा रहे हैं। ये कृत्रिम उपग्रह पृथ्वी के चारों ओर खगोलयान के रूप में वैज्ञानिक अनुसंधान हेतु परिक्रमा करते हैं। कुछ तो वातावरण सम्बन्धी या जलवायु सम्बन्धी जानकारी निमित आंकड़े एकत्रित कर सूचित करते हैं तथा कुछ रेडियो व टेलीविज़न कार्यक्रम प्रसारित करने में सहायता करते हैं या फिर आकाश में मानव शरीर पर कैसा प्रभाव पड़ता है आदि के अध्ययन में योगदान प्रदान करते हैं। कुछ एक तो खगोल विज्ञान की खोज में अपना योगदान प्रदान करते हैं। ये खगोल वैज्ञानिक कृत्रिम उपग्रह खगोल के भिन्न पिण्डों के बारे में खगोल वैज्ञानिक संकेत एकत्रित कर भूमि तक प्रसारित करने की क्षमता रखते हैं जो खगोल विज्ञान के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं।



ये उपग्रह भिन्न आकार व प्रकार के हो सकते हैं। कुछ विशाल गुब्बारे के रूप में तो कुछ गेंद, कनस्तर, डिब्बे आदि के रूप में। इनकी गति में भी अन्तर रखा जाता है। इनको पृथ्वी-कक्ष वायुमण्डल से बाहर जाने का अवसर उपलब्ध नहीं। ये पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के अन्तर्गत ही स्थापित रहते हैं। इनमें से कुछ तो भूमि से 177 कि॰ मी॰ तक की दूरी पर और कुछ 35,000 कि॰ मी॰ तक की दूरी पर स्थापित हैं। इनकी यह दूरी, यात्रापथ एवं समय पूर्व निर्धारित उद्देश्य

सिद्धि के अनुरूप ही निश्चित की जाती है। कुछ उपग्रह तो बहुउद्देशीय भी होते हैं।

इन सैटेलाईट यन्त्रों को सक्रिय रखने के लिए विद्युतीय शक्ति की आवश्यकता बनी रहती है। इस शक्ति का मुख्य स्रोत तो सूर्य ही है। इन उपग्रहों की बाहरी सतह पर कई सौर-शक्ति सैल लगाए जाते हैं जो सूर्य के प्रकाश से सौर ऊर्जा उत्पन्न कर उपग्रह की बैटरियों को सक्रिय बनाए रखते हैं। इसी विद्युतीय शक्ति द्वारा ही ये उपग्रह कार्य करते रहते हैं और अपने रेडियो व दूरदर्शन संदेश संचारित रखते हैं जो एक महाद्वीप से अन्य महाद्वीपों तक सुगमता से पहुंचाए जाते हैं। अधिकांश संचार उपग्रहों में अभिग्रहण तथा सम्प्रेषण यन्त्रों की व्यवस्था रहती है जो पृथ्वी से रेडियो व टेलीविज़न संकेतों को प्राप्त कर प्रेषित करते हैं। इन उपग्रहों को कई प्रकार के इलैक्ट्रॉनिक अथवा विद्युत् यन्त्रों से भी सुसज्जित किया जाता है जिनके फलस्वरूप संचार संकेतों की शक्ति को बढ़ाया जाता है ताकि ये संकेत सुदूर महाद्वीपों तक सुगमता से तथा स्पष्ट रूप में पहुंच सकें। वस्तुतः इन उपग्रहों का वायुमण्डल या आकाश पर्याप्त ऊंचाई पर स्थापित किया जाता है ताकि उनके संकेत दूर-दूर तक पहुंच सकें।

कृत्रिम उपग्रह प्रायः दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो अपनी कक्षा में पृथ्वी के इर्द-गिर्द चक्कर काटते रहते हैं और दूसरे वे जो एक ही स्थान पर स्थिर रहकर अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। अमरीकी उपग्रह टैलस्टार तथा अर्ली बर्ड क्रमशः इन्हीं के उदाहरण हैं। टैलस्टार द्वारा अमरीका व यूरोप में सीधा दूरदर्शन संचार स्थापित है। अर्ली बर्ड आकाश में 35,000 कि॰ मी॰ ऊपर स्थापित है तथा पृथ्वी इसके इर्द-गिर्द अपना एक चक्कर 24 घंटे में पूरा करती है। क्योंकि यह वायुमण्डल में काफी ऊंचाई पर स्थापित है, अतः इसमें दूर-दूर तक संकेत प्रसारित करने की सक्षमता बनी रहती है। कई अन्य अमरीकी, रूसी व भारतीय उपग्रह भी अब इस क्षेत्र में स्थापित किए जा चुके हैं जो अत्यन्त सकुशलतापूर्वक अपने सुनिश्चित कार्य सम्पन्न कर रहे हैं। इनमें ऐक्सप्लोरर, स्पूतनिक I व II, आर्यभट्ट, भास्कर, पृथ्वी I व II आदि उल्लेखनीय हैं।

कृत्रिम उपग्रह कई अन्य प्रकार के भी हैं। कुछ केवल संचार के माध्यम मात्र हैं तथा रेडियो, दूरदर्शन, दूरभाष संकेतों को प्रसारित करते हैं। इनको पुनः दो उपवर्गों में बांटा जा सकता है। पहले के जो पृथ्वी के एक स्थान से दूसरे स्थानों तक संकेत पहुंचाने अथवा प्रसारित करने का कार्य करते हैं तथा दूसरे वे जो इन संकेतों को बढ़ा-चढ़ा या प्रवर्धित कर पुनः प्रसारित करते हैं। इनमें से खगोल विज्ञ न सम्बन्धी विशेष कृत्रिम उपग्रह उन सभी यन्त्रों से सुसज्जित रहते हैं जिनके द्वारा आकाश से खगोल सूचनाएं एकत्रित कर ब्रह्माण्ड, वायुमण्डल तथा ऋतु परिवर्तन का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

कृत्रिम उपग्रह को स्थापित करने हेतु इस कोई 30,000 कि॰ मी॰ प्र॰ घटा या इससे भी अधिक गति की दर से सीधा आकाश की ओर सीधी रेखा में छोड़ा जाता है। भूमि के गुरुत्वाकर्षण के परिणामस्वरूप इसकी सीधी रेखीय यात्रा आकाश में पहुंचते-पहुंचते भूमि के इर्द-गिर्द वक्राकार हो जाती है तो यह कृत्रिम पिण्ड तथा कृत्रिम उपग्रह के रूप में स्थापित हो अपना पूर्व निर्धारित कार्य करना प्रारम्भ करे देता है।

सूर्य सरंचना

सामान्य जानकारी के अनुसार सूर्य कई परतों वाली गरम गैसों का एक विशाल गोला है। यह प्रकाश, गरमी तथा शक्ति का भरपूर स्रोत प्रदान करता है। वस्तुतः पृथ्वी पर जीवन व्यापक रूप से सूर्य की इन शक्तियों पर ही आधारित है। सूर्य में उपस्थित पदार्थों तथा इसकी शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करने हेतु कई प्रकार के उपकरण प्रयोग में लाए जाते हैं।

प्रत्यक्षतः सूर्य प्रज्वलित गैसों का एक समावेश मात्र है। गैसों के इस समूह के पदार्थों के विषय में जानने हेतु स्पैकट्रोस्कोप अर्थात् स्पैक्ट्रोदर्शी का प्रयोग किया जाता है। इससे यह जानकारी प्राप्त होती है कि सूर्य के प्रकाश के रंग किन-किन रासायनिक तत्त्वों अथवा रसायनों द्वारा उत्पन्न होते हैं। इन सब रंगों की सूची स्थाई रूप में स्पैक्ट्रोग्राफ़ अर्थात् स्पैक्ट्रोलेखी द्वारा सुरक्षित रखी जाती है।

इसी प्रकार यह जानने के लिए कि सूर्य पर वि.भिन्न पदार्थ किस प्रकार सम्मिलित एवं वितरित हैं स्पैक्ट्रोहीलयोस्कोप तथा स्पैक्ट्रोहीलयोग्राफ़ अर्थात् स्पैक्ट्रोसूर्यदर्शी तथा स्पैक्ट्रोसूर्यचित्रिक जैसे यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। सूर्य के परिमण्डल के विषय में जानने हेतु एक विशेष पकार की दूरबीन का प्रयोग किया जाता है जिसे कोरोनाग्राफ़ अर्थात् सूर्यपरिमण्डलचित्रिक कहते हैं। सूर्य रेडियो विकिरण भी प्रसारित करता है जिनकी जानकारी प्राप्त करने हेतु रेडियो-दूरबीन का प्रयोग किया जाता है।

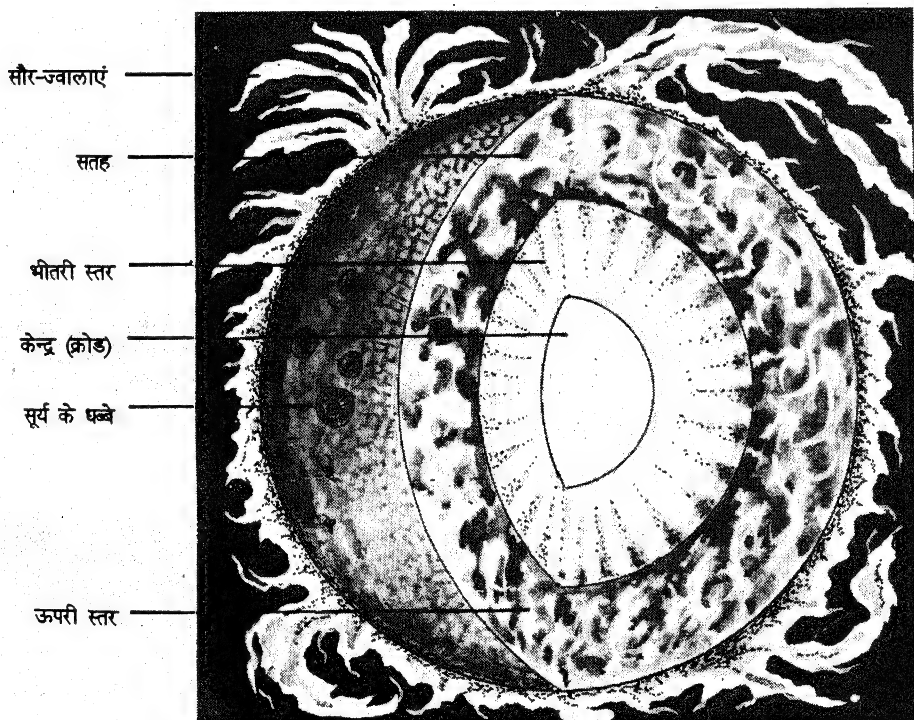
सूर्य किन-किन पदार्थों से बना हुआ है यह जानना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तो है ही, वरन् अत्यन्त कठिन भी। इस विषय में व्यापक ज्ञान अर्जित करने के लिए कई नये यन्त्रों का आविष्कार हो रहा है। क्योंकि पृथ्वी का वायुमण्डल सूर्य की अनेकानेक विकिरणों को भूमि पर पहुंचने से रोक लेता है, अतः ऐसे भी यन्त्र प्रयोग में लाए जाते हैं जो भूमण्डल से सुदूर ऊपर जाकर वांछित जानकारी उपलब्ध कराने में समर्थ हैं।

वस्तुतः सूर्य एक सितारा है जो अपने ही प्रकाश से प्रज्वलित होता है तथा यह अपनी शक्ति स्वतः ही अर्जित करता है। सूर्य के अत्यन्त गरम भाग में हाईड्रोजन के परमाणु आपस में मिलकर हीलियम में परिवर्तित होते जाते हैं। इससे निरन्तर शक्ति उत्पन्न होकर, इसकी परत पर आती रहती है, जिसे सूर्य हज़ारों-लाखों वर्षों से प्रसारित या विकिर्णित करता आ रहा है तथा अनन्त वर्षों तक प्रसारित करता रहेगा।

क्या सूर्य अपने सभी भागों से प्रकाश व शक्ति को एक समान उत्पन्न व प्रसारित करता है ? यह प्रश्न भी सूर्य की संरचना से सम्बन्धित है। सूर्य सभी बिन्दुओं पर एक समान नहीं

चमकता। क्योंकि सूर्य कोई ठोस पदार्थ नहीं है, अतः इसके भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न दरों से घूर्णन करते हैं। उदाहरणार्थ, इसकी भूमध्य रेखा क्षेत्र का भाग 25 दिनों में घूर्णन करता है जबकि ध्रुवों की रेखा का भाग इस घूर्णन में 34 दिन तक ले लेता है।

सूर्य की बाहरी परत जिसे कोरोना कहते हैं, हल्की गैसों तथा प्रकाश से बना होता है। यह कोरोना प्रायः सम्पूर्ण सूर्य-ग्रहण के समय सूर्य के इर्द-गिर्द असामान्य प्रकाश चमक के रूप में साफ़ दिखाई देता है। यह परत प्रकाश व गैसीय पदार्थ की बनी होती है। इसके दो भाग होते हैं—भीतरी कोरोना व बाहरी कोरोना। भीतरी कोरोना का रंग गहरी पीली पट्टी के रूप में दिखाई देता है तथा यह लाल रंग के क्रोमोस्फ़ियर के साथ-साथ तुरन्त सटा-सा रहता है। इस कोरोना का बाहरी भाग सफेद रंग का होता है यह नदियों के आकार में सूर्य के किनारे-किनारे लाखों मीलों तक प्रसारित होता रहता है। इस प्रक्रम में सूर्य की चमक के स्वरूप में कुछ विशिष्ट अन्तर अवश्य ही प्रकट होते हैं। सूर्य की लगभग 9,000 मील मोटी एक और परत है जिसे कोरोमोस्फ़ियर की संज्ञा दी जाती है। इसमें प्रायः हाइड्रोजन व हीलियम गैस ही होती हैं। सम्पूर्ण सूर्य-ग्रहण के समय



सूर्य के काले भाग के इर्द-गिर्द यही चमकीले सिंदूरी प्रकाश के रूप में चमकती है। इस लाल सिंदूरी क्षेत्र से ही विशेष प्रकार के आग के शोले जैसे विशाल बादल उठते हैं, जो लगभग 10 लाख मील की ऊंचाई तक उड़ते चले जाते हैं। इससे भी सूर्य की चमक की एकसमानता में कुछ अन्तर पड़ना स्वाभाविक है। परन्तु यह असमानता स्पष्टतया प्रकट नहीं होती क्योंकि सूर्य अन्य सितारों की अपेक्षा पृथ्वी के निकटतम है। क्योंकि सूर्य एक उपयुक्त दूरी पर है, अतः हम पृथ्वीवासी इसकी शक्ति, गरमी व रोशनी का भरपूर आनन्द उठाते हैं।

हालांकि अन्य सितारों की भांति सूर्य की उत्पत्ति के विषय में भी ठीक से कुछ बताया नहीं जा सकता, फिर भी स्पैक्ट्रोस्कोप के आविष्कार से इतनी जानकारी अवश्य उपलब्ध है कि सूर्य के बनाने में प्रायः कौन-कौन से तत्त्व सम्मिलित हैं तथा इनमें से कितने पृथ्वी में भी विद्यमान हैं। सूर्य अन्य सभी सितारों से बड़ा दिखाई देता है क्योंकि यह पृथ्वी से निकटतम केवल 9.3 करोड़ मील की दूरी पर स्थित है। इसीलिए अन्य तारे छोटे-छोटे दिखाई देते हैं।

सूर्य तथा इसका प्रकाश दिन में ही दिखाई देता है, जबकि सितारे केवल रात को ही टिमटिमाते व चमकते हैं। आखिर इनके प्रकाश का स्रोत कहां है ? क्या ये दोनों एक ही प्रकार के पदार्थ हैं ? इस रहस्य को जानना विज्ञान का कार्य रहा है। वस्तुतः सूर्य व सितारे एक ही प्रकार के पदार्थ हैं। सूर्य भी एक सितारा ही है जो पृथ्वी से अन्य सितारों की अपेक्षा सर्वाधिक निकटवर्ती तथा अपने आकार एवं आयतन में भी पृथ्वी से लगभग 13 लाख गुना बड़ा है। सूर्य हमें न केवल प्रकाश देता है अपितु गरमी व शक्ति भी। यह तीनों तत्त्व पृथ्वी पर जीवन के लिए अनिवार्य हैं। पृथ्वी पर समस्त जीवन निश्चित रूप से सूर्य की रोशनी व ऊष्मा रूपी शक्ति पर निर्भर करता है। सूर्य की गरमी के बिना पृथ्वी पर किसी प्रकार का जीवन आरंभ नहीं हो सकता और न ही इसकी रोशनी के बिना कोई हरे पेड़-पौधे, जीव-जन्तु एवं मानव ही निर्वाह कर सकते हैं।

सूर्य संरचना सम्बन्धी एक और आवश्यक तथ्य है इसके तापमान का विषय। वैज्ञानिकों की राय में सूर्य की सतह पर तापमान 6,000° सें. ग्रे. है तथा इसके भीतरी भाग में लगभग 2 करोड़ डिग्री सें. ग्रे.। ये आंकड़े केवल अनुमानित हैं क्योंकि इस विषय में कोई निश्च्रित अध्ययन सम्भव नहीं। इतनी जानकारी अवश्य ही उपलब्ध है कि सूर्य की संरचना में लगभग ऐसे 60 तत्त्व अवश्य ही हैं जो पृथ्वी पर भी विद्यमान हैं। इसके भीतर क्या है जानना कुछ कठिन है क्योंकि सूर्य तो कम से कम गैस पदार्थ की चार परतों से ढका रहता माना गया है। सबसे भीतरी परत प्रकाश क्षेत्र अथवा फोटोस्फ़ियर कहलाती है। सूर्य की ओर देखने से यही परत दिखाई देती है तथा इसी परत पर ही प्रायः सूर्य-कलंक के काले-काले धब्बे भी दिखाई देते हैं। इस परत के बाहर

एक उल्टी परत गैसीय वाष्पों विशेषकर हाइड्रोजन व हीलियम की होती है जो हज़ारों मीलों तक की मोटाई वाली है। यह परत दिखाई नहीं देती। इसे तो केवल स्पैक्ट्रोग्राफ़ के द्वारा ही देखा जा सकता है। इस उल्टी परत के बाहर क्रोमास्फ़ियर की परत होती हैं जिसे रंग-क्षेत्र भी कहा जाता है। इसमें भी हाइड्रोजन व हीलियम ही होती है तथा इसी से आग के शोले उठते दिखाई देते हैं। सबसे बाहरी परत कोरोना कहलाती है। यह सब मिलकर ही सूर्य का वायुमण्डल गठित करते हैं।

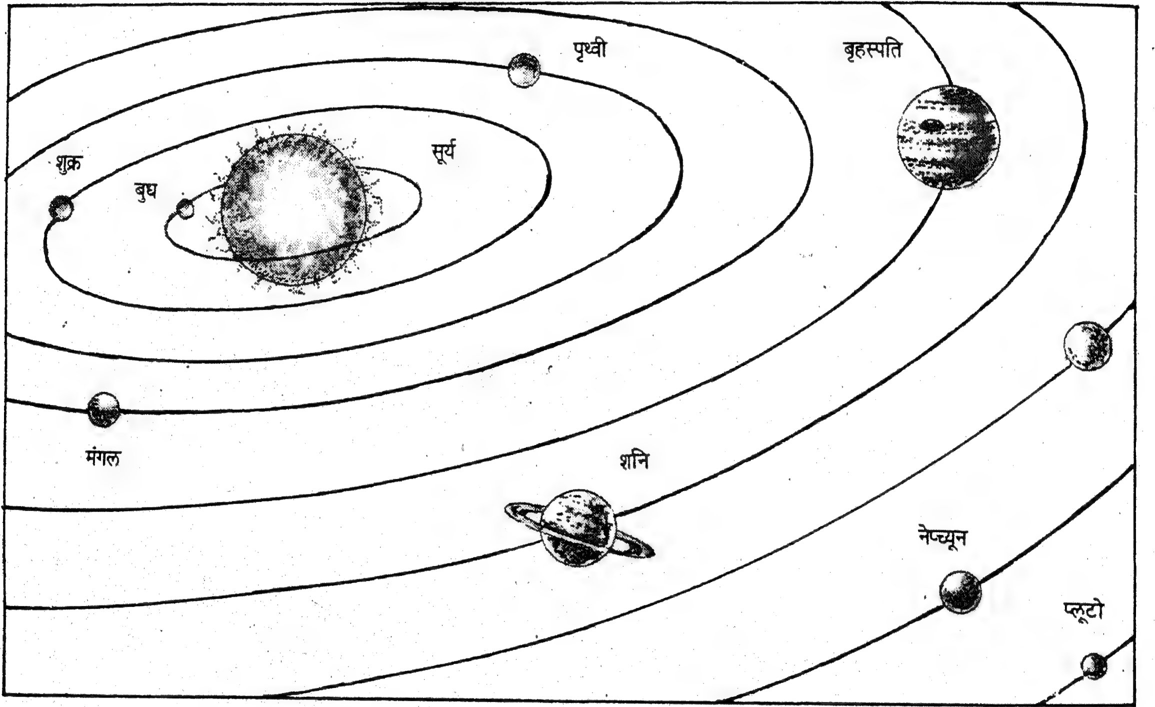
यह जानना भी अनिवार्य है कि सूर्य क्या अनन्तकाल तक ऐसा ही बना रहेगा ? यह जानना इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सूर्य भी एक सितारा ही है और कई अन्य सितारे समय पाकर परिवर्तित हो चुके हैं। क्या अन्य सितारों की भांति परिवर्तन प्रक्रम सूर्य को भी प्रभावित कर सकता है ? यदि हां, तो कैसे ? आज यह सर्वविदित है कि सूर्य प्रज्वलित शक्ति का स्रोत है। परमाणविक परिवर्तन सूर्य के अत्यन्त गरम भीतरी भाग में हाइड्रोजन परमाणु मिलकर हीलियम में परिवर्तित हो शक्ति का निरन्तर स्रोत उत्पन्न करते हैं। यह प्रक्रम कब तक चलता रहेगा? ऐसा अनुमान है कि यदि यह प्रक्रम इसी प्रकार 150 बिलयन और अधिक वर्षों तक भी बना रहे तो इससे सूर्य के पिण्ड की केवल 1 प्रतिशत मात्रा ही कम होगी, जिससे स्पष्ट है कि सूर्य अभी लाखों-करोड़ों वर्षों, मानो अनन्त काल तक इसी प्रकार गरमी, रोशनी व शक्ति प्रदान करता रहेगा।

जबकि कई वर्षों तक वैज्ञानिकों का विश्वास था कि सूर्य जल रहा है, जिसके फलस्वरूप न केवल यह चमकता है वरन् रोशनी एवं गरमी भी देता है, आज के वैज्ञानिकों की धारणा है कि सूर्य की गरमी तो किसी परमाणुबम प्रक्रम का परिणाम है जिसके फलस्वरूप सूर्य किसी भी पदार्थ को शक्ति के रूप में परिवर्तित कर देने की क्षमता रखता है। यह प्रक्रम जलने की प्रक्रिया से भिन्न है। जबकि जलने की प्रक्रिया पदार्थ को जलाकर एक आकार से दूसरे आकार में बदल देती है, परमाणुबम प्रक्रम अल्पतम् पदार्थ मात्रा से ही अत्यधिक शक्ति उत्पन्न करने की सक्षमता रखता है। इसके मात्र 28 ग्राम पदार्थ से ही इतनी शक्ति उत्पन्न हो सकती है जो लाखों टन चट्टान को पिघलाने के लिए पर्याप्त होती है। केवल एक प्रतिशत सूर्य का पदार्थ इतनी शक्ति प्रदान करता है कि यह सूर्य को पन्द्रह हज़ार वर्षों तक गरम तथा चमकीला बनाए रखने के लिए पर्याप्त है। सूर्य इसे ही निरन्तर शक्ति, गरमी तथा प्रकाश के रूप में परिवर्तित करता रहता है।

यदि यह वैज्ञानिक तथ्य सही है तो सूर्य की चमक का सदैव बना रहना सम्भव है। इसके विपरीत सूर्य के जलते रहने का तथ्य कुछ त्रुटिपूर्ण लगता है क्योंकि कोई भी वस्तु हज़ारों-लाखों वर्षों तक जलते रहने के पश्चात् शेष बची नहीं रह सकती।

सौरमण्डल

ब्रह्मांड में प्रत्येक सौरमण्डल अलग-अलग ढंग से व्यवस्थित हैं तथा इस व्यवस्था भिन्नता का सम्बन्ध इसकी उत्पत्ति प्रक्रम से जुड़ा हुआ है। मानव ने प्रकृति के कुछ ऐसे विशेष नियमों को खोज निकाला है जो सम्भवतः सौर परिवार की वर्तमान रचना-शैली को अंकित करते हैं। उदाहरणार्थ, अन्य ग्रहों के समान पृथ्वी भी एक निश्चित पथ का अनुसरण करती है। यह अपने ही ध्रुव कक्ष पर सूर्य के इर्द-गिर्द चक्कर लगाती रहती है तथा इस एक चक्कर को पूरा करने में जितना समय लगता है उसे ही एक वर्ष की संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार अन्य सभी ग्रहों के भी अपने-अपने ध्रुवकक्ष हैं जो पृथ्वी के पथकक्ष की अपेक्षा छोटे व बड़े हो सकते हैं।



ये सौर परिवार कैसे घटित हुए तथा उन्होंने किस प्रकार अपना-अपना आकार, स्थिति तथा पथकक्ष स्थापित किये, इसकी सम्पूर्ण व्याख्या या जानकारी प्रदान करना खगोलज्ञों के लिए भी कुछ कठिन-सा कार्य रहा है। फिर भी वे मुख्य रूप से दो प्रकार की परिकल्पनाएं प्रस्तुत करते हैं। एक मत के अनुसार ग्रहों की उत्पत्ति सूर्य में क्रमिक परिवर्तन के कारण हुई, जिसके अन्तर्गत वर्तमान आकार तथा प्रकाश-युक्त गरम गैस का तीव्र गति से घूमता हुआ विशाल खण्ड बिखरकर

गैस तथा धूल के बादलों को समेटे छोटे-छोटे घूमते खण्डों अथवा ग्रहों के रूप में परिवर्तित हो गए। दूसरे मत के अनुसार किसी एक समय सूर्य तथा किसी अन्य निकट से गुजरते सितारे में लगभग टक्कर-सी होने के परिणामस्वरूप सूर्य के बड़े-बड़े खण्ड बिखरकर भिन्न-भिन्न दूरी पर सूर्य के इर्द-गिर्द घूमने लगे जो अब ग्रहों के रूप में उपस्थित हैं।

इन दोनों ही परिकल्पनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्तमान व्यवस्थित सौर परिवार की उत्पत्ति किसी आकस्मिक संयोगवश हुई। सौरमण्डल इस अवस्था में ही क्यों स्थिर है ? इसकी व्याख्या कैपलर द्वारा प्रस्तुत ग्रहीय गति नियमों द्वारा की जा सकती है। ये सभी ग्रह सूर्य के इर्द-गिर्द अण्डाकार पथ पर यात्रारत रहते हैं। ये ग्रह अपने-अपने कक्ष पर उतनी ही तेज़ी से घूमते हैं जितने ही अधिक वे सूर्य के निकट स्थित हैं। इनकी सूर्य से दूरी एवं अपने कक्ष पर सूर्य के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने में लगे समय में एक निश्चित सम्बन्ध है। कैपलर के ये तीनों सिद्धांत न्यूटन द्वारा प्रस्तुत गुरुत्वाकर्षण नियम के ही अनिवार्य अंग हैं, जिनके अनुसार किन्हीं दो वस्तुओं में परस्पर आकर्षण प्रक्रम बना रहता है।

अतः सौर परिवार का अपनी स्थिति में बना रहना प्रकृति के कुछ निश्चित नियमों पर निर्भर है, जो मुख्य रूप से सूर्य तथा ग्रहों के परस्पर सम्बन्धों पर स्थिर है। सौरमण्डल तो केवल सूर्य व इसके ग्रहों में सम्बन्ध के फलस्वरूप घटित है। जबकि ग्रह इसकी परिक्रमा करते रहते हैं, सूर्य इन्हें गुरुत्वाकर्षण के परिणामस्वरूप निश्चित रूप से बांधे व संयमित रखता है। सौरमण्डल में वस्तुतः सभी ग्रह, चन्द्रमा, अस्ट्रायड (लघु ग्राहिका), धूमकेतु आदि सम्मिलित हैं जो सब सूर्य के गुरुत्वाकर्षण से जुड़े रहते हुए सौरमण्डल में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों व दूरियों पर स्थापित हैं और अपनी-अपनी निजी विशेषताओं से सौरमण्डल सुसज्जित किए हुए हैं। समूचा सौरमण्डल आकाशगंगा को केन्द्रबिन्दु मानकर लगभग एक गोलाकार मार्ग अपनाते हुए इस पथ पर कोई 2.2×10^8 वर्षों में अपना एक चक्कर सम्पन्न करता है।

सौरमण्डल के सभी ग्रह सूर्य के इर्द-गिर्द परिक्रमारत हैं। उनका गति क्रम व परिक्रमा पथ उनकी सूर्य से दूरी पर निर्भर करते हैं। इसी प्रकार सब ग्रह अपनी-अपनी धुरी पर भी घूमते हैं तथा उनकी घूर्णन गति भी भिन्न-भिन्न है। पृथ्वी द्वारा सूर्य परिक्रमा लगभग 365.25 दिनों में और घूर्णन लगभग प्रत्येक 24 घन्टे में संपूर्ण होती है जिनको क्रमशः वर्ष तथा दिन की संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार अन्य ग्रह भी अपनी-अपनी घूर्णन एवं सूर्य-परिक्रमा भिन्न-भिन्न समय में पूरी करते हैं।

सौरमण्डल में नौ ग्रह हैं। बुध (Mercury) सूर्य के सर्व निकटतम, एक सबसे छोटा, केवल 5,000 कि॰ मी॰ व्यास वाला ग्रह है। इनमें परस्पर औसत दूरी लगभग 5.3 करोड़ कि॰ मी॰ है

जबकि सूर्य से पृथ्वी की औसत दूरी लगभग 15 करोड़ कि॰ मी॰ है। बुध अपनी सूर्य परिक्रमा लगभग 88 दिनों में तथा अपनी घूर्णन प्रत्येक 58 अथवा 59 दिनों में सम्पन्न करता है। यही कारण है कि बुध का एक ही भाग सदैव सूर्य के सामने रहता है। इसमें तापमान प्रायः 400° से॰ ग्रे॰ तक रहता है। इसके विमुख भाग में तापमान –200° सें॰ ग्रे॰ अथवा शून्य से भी 200° से॰ ग्रे॰ नीचे रहता है। इतनी शीत व इतनी ऊष्ण अवस्था में न वहां जल अथवा वायु की उपलब्धि सम्भव है और न किसी प्रकार के जीवन की ही। बुध ग्रह पर तो कोई वायुमण्डल ही नहीं और न ही इसका कोई उपग्रह ही है। चन्द्रमा की भांति बुध का प्रकाशित भाग भी घटता और बढ़ता रहता है। इसका पूरा आकार तब दिखाई देता है जब यह और पृथ्वी सूर्य से एक दूसरे की विपरीत दिशा में होते हैं और तब यह कदापि दिखाई नहीं देता जब यह सूर्य और पृथ्वी के बीचों-बीच मध्य में आ जाता है। वस्तुतः बुध ग्रह सूर्य के निकटतम होने के फलस्वरूप तथा दिन में सूर्य के तेज़ प्रकाश के प्रभाव में प्रायः अदृश्य ही रहता है। केवल सूर्योदय के पूर्व पूर्वी क्षितिज और सूर्यास्त के पश्चात् पश्चिमी क्षितिज में यह स्पष्ट दिखाई देता है। देखने में अत्यन्त सुन्दर होने के फलस्वरूप इसे उच्च श्रेणी का ग्रह माना जाता है। बुध का आयतन पृथ्वी के आयतन की अपेक्षा बीस गुना कम है और गुरुत्वाकर्षण भी केवल एक चौथाई ही है। बुध छोटी-छोटी चट्टानों से बना हुआ है तथा इसकी सतह पर अंधेरे क्षेत्र व बहुत से गड्ढे भी विद्यमान हैं।

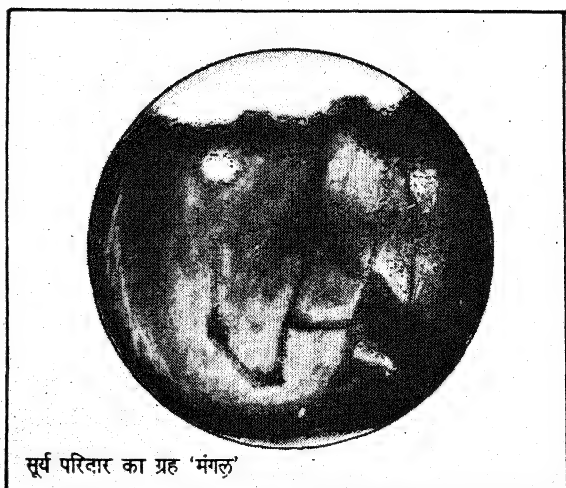
शुक्र (Venus) सफ़ेद रंग का ग्रह है। इसकी आकृति देखने में अत्यन्त सुन्दर है तथा इसे भी एक उच्च श्रेणी का ग्रह माना जाता है। इसकी सूर्य से दूरी लगभग 10.8 करोड़ कि॰ मी॰ और पृथ्वी से निकटतम दूरी 4.2 करोड़ कि॰ मी॰ है। इसका व्यास 12,100 कि॰ मी॰ है। शुक्र अपनी सूर्य परिक्रमा लगभग 225 दिनों में पूरी करता है तथा निजी घूर्णन 243 दिनों में। आश्चर्यजनक तथ्य तो यह है कि इस ग्रह का घूर्णन उल्टी दिशा में अर्थात् ऐन्टीकलाकवाइज़ होता है। शुक्र पर पृथ्वी की अपेक्षा दुगनी गरमी होती है जो दिन में प्रायः 100° से॰ ग्रे॰ तथा इसके अंधेरे भाग में तापमान –23° से॰ ग्रे॰ या शून्य से 23° कम होता है। शुक्र पूरी तरह बादलों जैसी घटा से घिरा रहता है। ये बादल जलवाष्प के न होकर गाढ़े गंधक तेज़ाब के होते हैं। इन बादलों के नीचे कार्बन डाइ-ऑक्साइड की अत्यधिक मात्रा होती है जो सूंघने योग्य नहीं होती। इन बादलों के नीचे तापमान 500° से॰ ग्रे॰ तक हो जाता है। इस ग्रह का अपना वायुमण्डल तो है जिसमें प्रायः नाइट्रोजन गैस तो होती है परन्तु जल नहीं होता। शुक्र भी बुध व चन्द्रमा की भांत्ति भिन्न-भिन्न कलाओं में दृष्टिगोचर होता है। यह ग्रह अंतरिक्ष में पृथ्वी के अधिक निकटवर्ती अत्यन्त दिव्य ज्योतिप्रखर दिखाई देता है। यह सूर्यास्त के बाद पश्चिमी क्षितिज के ऊपर, अन्य तारों के निकलने से बहुत पहले, दिखाई देता है और कभी-कभी सूर्योदय से पूर्व पूर्वी आकाश में, 'अन्य तारों के

छिपने के बाद तक, सफ़ेद रंग का यह अत्यन्त सुन्दर ग्रह टिमटिमाता तथा चमकता हुआ दिखाई देता है। इसके तेज़ व सौंदर्य के फलस्वरूप इसे सौन्दर्य की देवी की संज्ञा भी दी जाती है।

शुक्र के बाद क्रमशः पृथ्वी (Earth) ग्रह भी सूर्य परिक्रमा तथा निजी घूर्णन करती हैं। सूर्य के इर्द-गिर्द यह अपनी एक परिक्रमा लगभग 365 दिनों में पूरी करती है जबकि अपनी धुरी पर यह एक दैनिक चक्र अथवा घूर्णन लगभग 24 घंटे (23 घंटे 56 मि॰ 4.091 सै॰) में पूरा कर लेती है। इसी से दिन व रात की उत्पत्ति होती है। आखिर यह यात्रा सूर्य के इर्द-गिर्द ही क्यों ? यह प्रश्न वस्तुतः सौरमण्डल की उत्पत्ति से जुड़ा हुआ है।

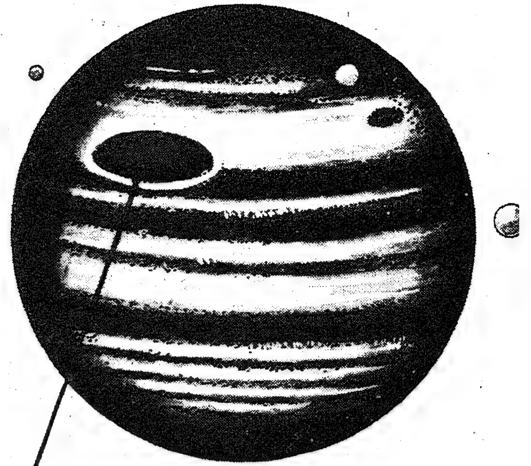
पृथ्वी लट्टू के समान स्थायी अक्रियता अथवा जाईरोस्कोपिक इनर्शिया सिद्धान्त के अनुरूप घूर्णन करती है। इसके अनुसार कोई भी लट्टू के समान घूमता हुआ पिण्ड अक्रियता के फलस्वरूप तब तक आकाश में उसी शक्ति के साथ तथा उसी दिशा में घूमता रहता है, जिस शक्ति से तथा जिस दिशा में इसका आरम्भ हुआ हो, जब तक कि कोई बाह्य शक्ति इसमें कोई बाधा न डाले। पृथ्वी एक विशाल घूमता हुआ लट्टू ही तो है जो सदैव अपने अक्ष पर उतरी ध्रुव तारे की ओर संकेत करती हुई घूर्णनरत है। यह इसी शक्ति व इसी दिशा में तब तक निरन्तर घूमती रहेगी जब तक कि इस क्रम में कोई बाहरी शक्ति विघ्न न डाले। पृथ्वी का झुका हुआ अक्ष उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों के बीचों-बीच गुज़रता हुआ दिन-रात तथा सालों-साल इसी क्रम को बनाए रखता है। पृथ्वी का घूमना वस्तुतः एक ऐसे गोले या गेंद के समान है, जिसे वायुरहित आकाश में यदि एक विशेष गति तथा दिशा में विशेष शक्ति से घूमता हुआ छोड़ा जाए, क्योंकि आकाश में इसके मार्ग पर न कोई बाधा है और न ही कोई बाहरी शक्ति, तो यह गोला या गेंद निरन्तर उसी गति से व उसी दिशा में घूमता ही रहेगा। इसी सिद्धान्त पर ही पृथ्वी का घूर्णन क्रम निरन्तर बना रहता है।

मंगल (Mars) 6,800 कि॰ मी॰ व्यास वाला एक छोटा-सा ग्रह है जो आयतन में पृथ्वी का केवल सातवां भाग तथा व्यास में लगभग आधा है। आयतन में यह चन्द्रमा से दुगना है। यह सूर्य से लगभग 22.8 करोड़ कि॰ मी॰ की दूरी पर स्थित है, जबकि पृथ्वी की सूर्य से दूरी लगभग 15 करोड़ कि॰ मी॰ ही है। मंगल अपनी सूर्य परिक्रमा लगभग दो वर्षों या 687 दिनों में पूरी करता है। इसकी घूर्णन गति लगभग पृथ्वी

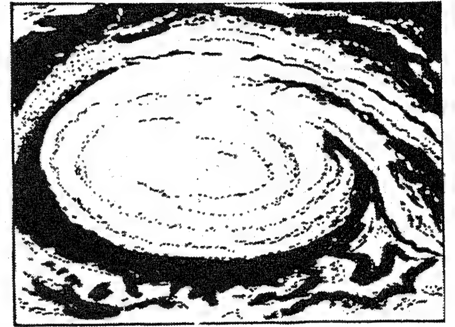

सूर्य परिवार का ग्रह 'मंगल'



की घूर्णन गति के समान है। अतः यहां 24 घं॰ 37 मि॰ के दिन की लम्बाई पृथ्वी पर 24 घंटे के एक दिन के लगभग समान है। पृथ्वी की भांति मंगल पर भी जलवायु परिवर्तन होता है। परन्तु इसका वायुमंडल अत्यन्त विरल होने के कारण और यहां सूर्य के ताप व प्रकाश की कम मात्रा पहुंचने के फलस्वरूप, यहां पृथ्वी की अपेक्षा, अधिक शीत रहती है। इसका गुरुत्वाकर्षण भी पृथ्वी की अपेक्षा 2½ गुना कम है। यहां दिन और रात के तापमान में बहुत अधिक अन्तर रहता है। दिन गरम परन्तु रात अत्यन्त ठंडी रहती है। दिन का तापमान अधिक से अधिक 28° सें॰ ग्रे॰ और रात का तापमान घटकर −85° सें॰ ग्रे॰ हो जाता है। यहां का जल सदा जमा ही रहता है। यहां भी कार्बन डाइ-आक्साईड के घने बादल से छाए रहते हैं। मंगल ग्रह की चमक लाल रंग की है जो सम्भवतः यहां पृष्ठीय मरुक्षेत्र होने के परिणामस्वरूप है। यहां का अधिकांश क्षेत्र शुष्क रहता है। यूं तो यहां विशाल ध्रुवीय हिमटोपियां हैं, फिर भी ये अत्यन्त गरमी के कारण शीघ्र ही पिघलकर समाप्त हो जाती हैं। मंगल ग्रह पर गहरे काले धब्बे तथा काली-काली रेखाएं भी दिखाई देती हैं जो देखने में सागरों एवं नदी-नालों का संकेत करती हैं। ये गहरे क्षेत्र ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ नीले हरे से पीले होते प्रतीत होते हैं जिनसे यहां जीवन के होने जैसा कुछ संकेत प्रतीत होता है। परन्तु क्या वास्तव में ही यहां जीवन की सम्भावना विद्यमान है ? इस प्रश्न की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान समय-समय पर आकर्षित होता रहा है। 1976 में अमरीका ने वाईकिंग अन्तरिक्ष अनुसंधान के यन्त्र मंगल ग्रह के पृष्ठ पर उतारे। इनके माध्यम से वहां की भूमि तथा जीवन के विषय में संकेत एकत्र करने हेतु रेडियो सूचनाएं पृथ्वी पर उपलब्ध की गईं। इन संकेतों से प्रकट हुआ कि यहां की भूमि या तो कीटाणुओं से भरपूर है या फिर अत्यन्त असाधारण है। यह किसी भी रूप में पृथ्वी की भूमि के समान नहीं। यहां किसी भी प्रकार के जीवन की सम्भावना कम ही दिखाई देती है।



सबसे बड़ा ग्रह 'बृहस्पति'



बृहस्पति का अण्डाकार लाल धब्बा जो पृथ्वी से तीन गुना बड़ा है। यह एक अंतहीन तूफान है

बृहस्पति (Jupiter) व शनि (Saturn) दो महाविशालकाय ग्रह सूर्य से दूर क्रमशः पांचवें व छठे स्थान पर सूर्य परिक्रमा एवं निजी घूर्णन में लगे हुए हैं। बृहस्पति सौरमण्डल का सबसे बड़ा ग्रह है । यह सूर्य से 78 करोड़ कि॰ मी॰ की दूरी पर 11.86 वर्षों में सूर्य परिक्रमा तथा केवल 10 घंटे से भी कम समय में अपना घूर्णन सम्पन्न कर लेता है। बृहस्पति का व्यास पृथ्वी के व्यास से ग्यारह गुना अर्थात् लगभग 1,42,700 कि॰ मी॰ तथा इसका पृष्ठीय क्षेत्रफल पृथ्वी पृष्ठ से 120 गुना है। बृहस्पति सौर परिवार के ग्रहों में सबसे बड़ा ग्रह है। यह आयतन में पृथ्वी से 1,300 गुना से भी अधिक बड़ा है। बृहस्पति पर गुरुत्व पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से 2½ गुना है। बृहस्पति का वायुमण्डल सघन है और इसका तापमान –140° सें॰ ग्रे॰ अर्थात् शून्य से भी 140° नीचे रहता है। यह बुध व शुक्र की भांति अति सुन्दर दिखाई देता है तथा इसे भी ग्रहों में उच्च स्तर प्राप्त है। यह पीले रंग का ग्रह है तथा इसके इर्द-गिर्द रंग-बिरंगे बादलों की पट्टियां घूमती रहती हैं। इसे तो वस्तुतः एक विशाल लाल रंग के धब्बे के समान बादलों में साफ़ देखा जा सकता है। यह एक विशाल तरल गोला है। इस पर हाइड्रोजन तथा हीलियम का ही आधिक्य रहता है जो ग्रह के केन्द्र की ओर गहरा व गाढ़ा होता चला जाता है। हालांकि यह भूमि से, निकटतम मार्ग द्वारा 36.7 करोड़ मील की दूरी पर स्थित है, फिर भी यह खुली आंख द्वारा देखने पर चमकदार तथा सुन्दर और दूरबीन के माध्यम से देखने पर निरन्तर परिवर्तनशील दृश्य प्रस्तुत करता है।

बृहस्पति की एक और विशेषता है। यह वस्तुतः अपने आप में ही एक लघु सौरमण्डल तंत्र के समान है। अब तक ऐसे 16 चन्द्रमाओं या सितारों का पता चल चुका है जो इसके इर्द-गिर्द

घूम रहे हैं। इनमें से चार तो परिमाण में सौरमंडल के चन्द्रमा के लगभग समान हैं और दो का व्यक्तिगत व्यास 30 मील के लगभग है। अन्य में से कुछ तो अति लघु हैं तथा उनका व्यास 15 मील या इससे भी कम है। वस्तुतः मंगल ग्रह के बाद बृहस्पति ही सम्भवतः सर्वाधिक रुचिकर है। इसमें सबसे रोचक तथा आश्चर्यजनक लगभग 30,000 मील लम्बा तथा 8,000 मील चौड़ा एक विशाल लाल धब्बे जैसा स्थान है। इसके रंग, आकार, घनत्व तथा गति में समयानुसार बड़े-बड़े परिवर्तन होते रहते हैं। कुछ वर्षों में यह ईंट जैसा लाल, कुछ अन्य वर्षों में यह धूसर और कभी-कभी तो यह समूचे तौर पर लुप्त होता ही प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, यह रहस्यमयी लाल धब्बा बृहस्पति पर ऐसे सरकता प्रतीत होता है जैसे कि वह वहां से सर्क अथवा फिसल-सा रहा हो।

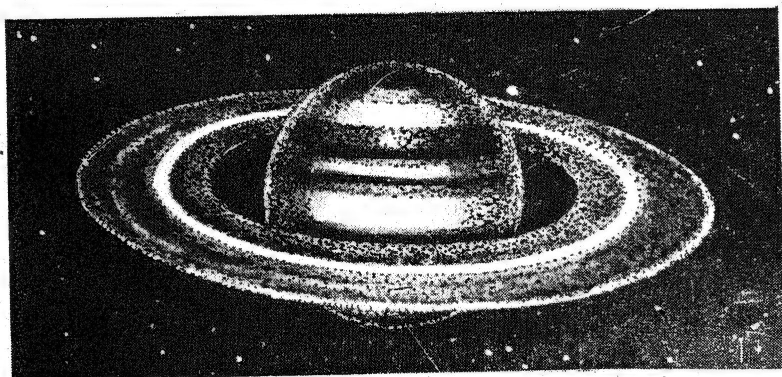
बृहस्पति के बारे में एक और आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि इसके पृष्ठ पर प्रायः भड़कीले एवं चमकदार रंग दिखाई देते रहते हैं। इनमें से दो पट्टियां तो बदलकर गहरे लाल से भूरी, धूसर और नीले रंग तक की भी हो जाती हैं। इस रंग परिवर्तन क्रम में कोई बारह रंगों तक की झलकियां बारी-बारी प्रस्तुत हो जाती हैं। कहा जाता है कि इसका सीधा सम्बन्ध बृहस्पति द्वारा सूर्य के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने से है। इस परिक्रमा में कोई बारह वर्ष का समय लगता है। इसके फलस्वरूप रंग परिवर्तन भी एक ऐसे चक्र का अनुसरण करते हैं जिसमें प्रत्येक रंग 12 वर्ष पश्चात् अपने आप ही घूमकर सामने आ जाता है। वस्तुतः इस प्रकार के अद्वितीय रंग परिवर्तन का स्वभाव किसी भी अन्य ग्रह का नहीं।

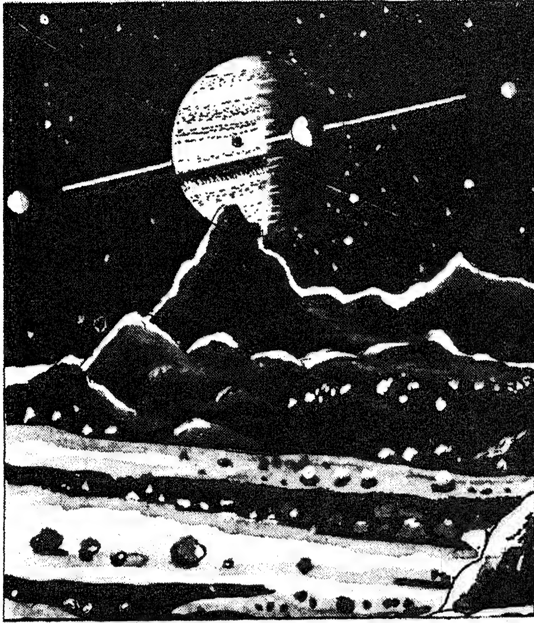
मंगल व बृहस्पति के बीच एक बहुत बड़ा खाली स्थान है। इस स्थान में लघुग्रहिकाओं की खोज जारी है। कुछ ऐसे भी अस्ट्रायड अथवा लघुग्रहिकाएं हैं, जो मंगल तथा बृहस्पति ग्रहों के बीच के क्षेत्र में स्थित हैं। वे भी प्रायः सूर्य के इर्द-गिर्द चक्कर लगाती रहती हैं। क्योंकि इन दो ग्रहों के बीच एक बहुत बड़ी खाली स्थान एवं दूरी है, अतः चिरकाल से ही खगोलशास्त्री इसकी खोज में लगे हुए हैं कि आखिर इस शून्य स्थान में है क्या ? अनुमान है कि इन दो ग्रहों के बीच के विशाल खलाव में कोई न कोई अन्य उपग्रह अवश्य होना चाहिए। इस प्रयास में 1801 में एक ग्रहिका की खोज हुई। इसे खेरीज़ ग्रहिका की संज्ञा दी गई। यह अनुमान लगाया गया कि यह ग्रहिका अवश्य ही किसी छोटे-छोटे ग्रहिका समूहों में से एक होनी चाहिए। अतः प्रयास जारी रहने पर 1890 तक लगभग 300 ग्रहिकाओं की जानकारी प्राप्त हुई और 1927 तक 2000 और छोटी-छोटी ग्रहिकाएं खोज ली गईं। ऐसा अनुमान है कि ऐसी ग्रहिकाओं की कम से कम संख्या 1,00,000 होनी चाहिए जिनमें अधिकांश ग्रहिकाएं इतनी छोटी हो सकती हैं कि इनको सहज खोजा भी नहीं जा सकता। कुछ तो केवल कुछ सौ गज़ मात्र आकार से भी बड़ी नहीं और कुल मिलाकर

वे सब मात्रा में पृथ्वी की अपेक्षा बहुत छोटी ही होंगी। शायद ये सब बृहस्पति के किसी उपग्रह के फटने के परिणामस्वरूप छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटकर छोटी-छोटी ग्रहिकाओं के रूप में स्थापित हो गईं।

शनि (Saturn) सूर्य से 1 अरब, 42 करोड़, 60 लाख कि॰ मी॰ की दूरी पर लगभग 29.5 वर्षों में सूर्य परिक्रमा तथा बृहस्पति के समान लगभग केवल 10 घंटों और 14 मिनटों में अपना घूर्णन सम्पन्न करता है। यहां पर भी दिन, रात एवं ऋतुएं पृथ्वी के समान घटित होते हैं। शनि आयतन में पृथ्वी से 750 गुना बड़ा है। इसका व्यास 7,500 मील है। इसका वायुमण्डल प्रायः इतना सघन तरल हाइड्रोजन गैस से घिरा हुआ है कि इसमें घुसना असम्भव सा है। यहां किसी भी प्रकार के जीवन की कोई संभावना नहीं। इस पर तापमान –150° से॰ ग्रे॰ है। शनि के चारों ओर चमकदार छल्ले हैं जो छोटे-छोटे चन्द्रमाओं की तरह परिक्रमारत हैं। शनि सौरमण्डल का एक विशालकाय ग्रह है। विशालता के संदर्भ में इसका स्थान बृहस्पति के बाद दूसरे नम्बर पर आता है। इसके नौ उपग्रह हैं।

शनि के विषय में एक ऐसी आश्चर्यजनक विशेषता दिखाई पड़ती है जो किसी भी अन्य ग्रह में विद्यमान नहीं। खगोलज्ञों के लिए यह आश्चर्य अभी तक एक रहस्य बना हुआ है। 1610 ई॰ में गैलिलियों ने पहली बार देखा कि शनि के इर्द-गिर्द चारों दिशाओं में कुछ छूटता-सा प्रतीत होता है। कुछ दशक बाद यह भी देखा गया कि शनि के चारों ओर एक पतला चपटा-सा ऐसा क्रान्तिवृत्ताकार छल्ला दिखाई पड़ता है जो इसे कहीं से भी छूता हुआ प्रतीत नहीं होता। सौरमण्डल का यह एंक अत्यन्त रोचक व अद्वितीय रहस्य है। वस्तुतः ऐसा अनुभव किया जा चुका है कि यह छल्ला अकेला नहीं। यह मुख्यतः तीन नियमित छल्लों की व्यवस्था बनाए हुए है तथा इनका क्षेत्र 1,70,000 मील तक फैला हुआ है। ये तीनों शनि की भूमध्य रेखा पर एक ही तल पर स्थापित हैं। इनमें से मध्य या बीच वाला





वल्य सबसे चमकीला है जबकि इसके भीतर वाला वल्य अत्यन्त मन्द या फीका है। मध्य वल्य भीतरी वल्य से कोई 1,800 मील की दूरी पर स्थित है, जबकि कई बाहरी वल्यों के विद्यमान होने की सम्भावना भी टाली नहीं जा सकती। आखिर ये छल्ले हैं क्या ? ये ठोस तो कदापि नहीं। ये सम्भवतः उस पिण्ड के छोटे-छोटे भाग हैं जो अपने निजी आकार में न आ सके। ये अत्यन्त सूक्ष्म प्रकार की चन्द्रिकाएं हैं जो अपने ही पथ पर परिक्रमारत हैं। वस्तुतः ये वल्य इतने पतले हैं कि वे कभी-कभी लगभग 15 या 16 वर्षों के बाद ही दिखाई पड़ते हैं।

सूर्य से दूरी के क्रम में आगे आते हैं—उरण (Uranus) गहरे छल्लों के साथ, वरुण (Neptune) हल्का हरा तथा यम (Pluto) चन्द्रमा से भी कहीं छोटा ग्रह। उरण 2 अरब, 87 करोड़ कि॰ मी॰ तथा वरुण 4 अरब, 49 करोड़, 30 लाख कि॰ मी॰ की दूरी पर अपनी-अपनी सूर्य-परिक्रमा तथा घूर्णन कर रहे हैं। उरण व वरुण आकार में लगभग बराबर हैं परन्तु वे पृथ्वी से लगभग 60 गुना अधिक बड़े हैं। उरण (व्यास 51,800 कि॰ मी॰) 84 वर्षों में, वरुण (व्यास लगभग 94,400 कि॰ मी॰) लगभग 165 वर्षों में तथा यम (व्यास लगभग 2,700 कि॰ मी॰) लगभग 250 वर्षों में अपनी सूर्य परिक्रमा सम्पन्न करते हैं। उरण अपना घूर्णन 11 घंटों में संपन्न करता है। इस ग्रह के पांच उपग्रह भी हैं जबकि वरुण के केवल दो उपग्रह हैं। यम के घूर्णन का समय अभी तक ज्ञात नहीं हो सका परन्तु इस ग्रह पर तापमान −200° अर्थात् शून्य से भी 200° सें॰ ग्रे॰ कम का अनुमान है। यम इनमें सबसें छोटा ग्रह है।

यम हमारे सौरमंडल का सबसे दूर अथवा सबसे बाहरी ग्रह है। यह पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य से कहीं 40 गुना अधिक दूरी पर स्थित है। इसकी खोज लगभग उतनी ही कठिन रही है जितनी एक सुई को भूसे के भंडार से खोजने की। यह इतना धूमिल या धुंधला दिखाई देता है कि इसे केवल देखने मात्र हेतु ही एक अच्छे आकार की दूरबीन की आवश्यकता पड़ती है।

1846 तक तो सौर परिवार में सबसे दूर पाया जाने वाला ग्रह उरण ही माना जाता था। परंतु दो खगोलशास्त्रियों ने शंका व्यक्त की कि इस ग्रह के विषय में कुछ-न-कुछ तो आश्चर्यजनक है क्योंकि वह अपने मार्ग पर इतनी स्वतंत्रता से नहीं घूमता जितनी इसे स्वतंत्रता से घूमना चाहिए। इसके व्यवहार प्रक्रम से प्रतीत होता था जैसे कि कोई अन्य ग्रह इस पर अपना प्रभाव बनाए हुए हैं। इस अन्य ग्रह की खोज बर्लिन स्थित वेधशाला में की जाने से आकाश में एक नए ग्रह का आविष्कार हुआ जिसे नैपच्यून अथवा वरुण की संज्ञा दी गई। इसी प्रक्रम में 1915 में एक अमरीकी खगोलशास्त्री लॉवैल ने भी शंका व्यक्त की कि कहीं एक और ऐसा ग्रह भी है जो उरण की गति को प्रभावित करता है। तब इसकी नियमित खोज प्रारंभ हुई। 18 फरवरी, 1930 को जब टोम्बाह नामक एक खगोलशास्त्री इस नए ग्रह की खोज में चित्रों का अध्ययन कर रहे थे तब उसे यह ग्रह उसी स्थिति के निकट दिखाई दिया जहां पर लॉवैल ने इसका संकेत दिया था। इस नए ग्रह को प्लूटो या यम की संज्ञा दी गई।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पृथ्वी के अतिरिक्त किसी भी अन्य ग्रह पर किसी प्रकार का कोई जीवन नहीं क्योंकि न वहां की जलवायु और न ही वहां की धरती जीवन के अनुकूल है। इन ग्रहों पर या तो इतनी ठंड है या फिर इतनी गरमी पड़ती है कि वहां किसी प्रकार के जीव का जीवित रहना असम्भव है। वहां जल भी उपलब्ध नहीं और न ही ऑक्सीजन ही। इन ग्रहों पर कार्बन डाइ-ऑक्साइड अत्यधिक मात्रा में पाई जाती है जो जीवन-प्रदायक नहीं होती। उदाहरणार्थ, मंगल तथा शुक्र ग्रहों पर वातावरण में कार्बन डाइ-ऑक्साइड की मात्रा इतनी अधिक है कि इसमें जीवों का दम ही घुट जाएगा। शुक्र ग्रह पर तो तेज़ गन्धक के तेज़ाब के तीव्र घने बादल छाए रहते हैं। इसके वायुमण्डल का दबाव अत्यन्त ऊंचा होता है तथा इसकी सतह पर तापमान 460° सें. ग्रे. से 500° सें. ग्रे. तक रहता है जो किसी भी जीव के लिए असह्य है। इसी प्रकार मंगल ग्रह पर तापमान कभी भी –29° सें. ग्रे. से ऊपर नहीं बढ़ता और सामान्यतया –85° सें. ग्रे. तक घट कर चला जाता है जिसके फलस्वरूप जो थोड़ा जल यहां होता भी है, वह हर समय जमी हुई बर्फ के रूप में ही रहता है। इस जल का किसी भी प्रकार से प्रयोग नहीं किया जा सकता। इन परिस्थितियों में इन ग्रहों पर जीवन की सम्भावना लेशमात्र ही रह जाती है। जीवनधारी तो केवल अनुकूल जलवायु, पर्याप्त मात्रा में जल, प्रकाश, खनिज, हरे पौधे, खाद्य पदार्थ आदि की सुगम उपलब्धि के परिणामस्वरूप ही जीवित रह सकते हैं। इनके अभाव में जीवन की कोई सम्भावना नहीं रहती। अतः अन्य ग्रहों पर प्रायः प्राणी-जीवन का अभाव बना हुआ है। अन्य ग्रहों पर जीवन की उपस्थिति की खोज चिरकाल से की जा रही है, परन्तु इस विषय में अभी तक कोई विशेष

जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी। कहा तो यूं जाता है कि अनेक विश्वव्यापी पुरातन लोककथाओं में पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य ग्रहों पर प्राणी जीवन न केवल उपस्थित ही है, वरन् वे प्राणी पृथ्वी निवासी मानव से कहीं अधिक बुद्धिमान भी हैं। उदाहरणार्थ, पेरू तथा अमरीका की भारतीय मूल जनजातियों, अफ्रीका की डोगोन प्रजातियों, न्यूजीलैंड के माओरीयों की दन्तकथाओं में बाहरी आकाश में ऐसे प्राणियों के निवास का वर्णन है जिनकी संस्कृति तो प्राचीनतम थी ही, परन्तु उनकी सौर तन्त्र, तथा निहारिकाओं का भी अद्भुत ज्ञान था। साईबेरिया के केटों तथा प्राचीन यूरोप व मध्य पूर्वी जनजातियों के अनुसार पृथ्वी के ऊपर आकाश में सात परतों में गोलाकार खगोल है जिन पर दिव्य मानवों का निवास है तथा जितनी ऊपर खगोलीय परत है उतना ही अधिक दिव्य, शक्तिशाली तथा कर्मठ वहां का बुद्धिजीवी है। दक्षिणी अमरीका तथा आस्ट्रेलिया के कुछ जनजातीय वर्ग इस तारापुंज को 'सात बहनों' की संज्ञा देते हैं तथा विश्वास करते हैं कि यही तो उच्चतम कोटि की अन्तरिक्षीय सभ्यता अथवा स्वर्ग के लोगों का घर है। यही तो मानव के पूर्वजों का मूल निवास स्थान था क्योंकि यहीं से ही दिव्य व्यक्ति उतर कर भूमि पर आए तथा पृथ्वी के मानवों को अनेक क्षेत्रों में कौशल दिव्य ज्ञान प्रदान किया। जर्मन व जापान तथा विशेषकर चीनी पौराणिक कथाओं में तो इन दिव्य लोगों ने ही मनुष्य को अनेक कला-कौशलों जैसे किश्ती बनाना, एक्यूपंचर द्वारा उपचार करना आदि का प्रशिक्षण दिया तथा भले व बुरे की पहचान शक्ति प्रदान की। ये दिव्य लोग ऊपर से पृथ्वी पर उतर अपना कार्य सम्पन्न कर पुनः वहीं लौट गए। वस्तुतः ऐसी पौराणिक कथाओं का कोई न कोई ऐतिहासिक अथवा तात्विक आधार अवश्य होना चाहिए क्योंकि जहां धुआं होता है अग्नि का भी वहां होना स्वाभाविक है। अतः इन कथाओं के पीछे छिपे सत्य की खोज भी विज्ञान के लिए एक चुनौती का विषय है।

ग्रहों के विषय में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या ये कभी आपस में टकरा सकते हैं ?

ग्रहों, उपग्रहों, सितारों आदि की दुनिया एक रहस्यमयी अजूबा है। आकाश में अनगिनत तारे तथा तारेमंडल, ग्रह व उपग्रह दिखाई देते हैं। ये सब जो अपने-अपने मार्ग पर नियमानुसार व क्रमबद्ध ढंग से गतिमान हैं। यदि यह क्रम सही तरह से चलता रहे, तो इनमें से कोई भी आपस में टकरा नहीं सकता। ये सब अपनी निश्चित दूरी तथा गति प्रक्रम में नियमबद्ध हैं, अतः टकराव की आशंका या सम्भावना नहीं हो सकती। सौरमंडल के ग्रहों के उदाहरणों से यह और भी सहज स्पष्ट किया जा सकता है। सौर परिवार में सूर्य के अतिरिक्त नौ ग्रह हैं जो सूर्य के इर्द-गिर्द

अपनी-अपनी निश्चित दूरी तथा भार व दूरी के अनुसार एक निश्चित गति से चक्कर लगा रहे हैं। वे कभी भी सूर्य के आकर्षण तथा निश्चित खिंचाव के प्रतिफल अपने मार्ग से विस्थापित नहीं होते। इसी कारण वे कभी आपस में टकरा नहीं सकते।

अधिकांशत ग्रहों के अपने-अपने उपग्रह भी हैं जो अपने-अपने ग्रह के इर्द-गिर्द नियमित चक्कर लगाते रहते हैं। इनसे भी ग्रहों के नियमबद्ध प्रकार्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि उन सबका अपना-अपना प्रक्रम सुचारू रूप से क्रमशः अपने-अपने मार्ग पर ही निरन्तर क्रमबद्ध है जिसमें किसी प्रकार की अव्यवस्था की कोई गुंजाइश नहीं।

पृथ्वी का वायुमण्डल

पृथ्वी का वायुमण्डल अन्य सभी ग्रहों एवं सितारों के वायुमण्डलों से अद्वितीय है। यह वायु से भरपूर एक विशाल वायु-महासागर के समान है जो पृथ्वी के इर्द-गिर्द सैकड़ों मीलों तक फैला हुआ है। यह सम्पूर्ण संसार में प्रायः एक समान है तथा इसमें विभिन्न गैसीय पदार्थों की मात्रा सब स्थानों पर एक सी रहती है। इसमें लगभग 78 प्रतिशत नाइट्रोजन तथा 21 प्रतिशत ऑक्सीजन होती है। ये दोनों गैसें जीवनदायिनी होती हैं। शेष सभी गैसों की मिलाकर कुल मात्रा 1 प्रतिशत ही होती है। ये शेष गैसें अत्यन्त हल्की होती हैं इनमें सम्मिलित हैं कार्बन डाइ-ऑक्साइड, आर्गन, नियॉन, हीलियम, कृपट्न, जैनान आदि-आदि लगभग 20 गैसें। गैसों की यह मात्रा पृथ्वी के इर्द-गिर्द ध्रुवों पर 7 कि॰ मी॰ तथा भूमध्य रेखा पर 28 कि॰ मी॰ तक की दूरी के वायुमण्डल में बनी रहती है। वायुमण्डल के सबसे निचले इस क्षेत्र को ट्रोपोस्फ़ियर अथवा क्षोभमण्डल की संज्ञा दी जाती है। इन गैसों के अतिरिक्त इस वायुमण्डल में जल-वाष्प, अन्य स्थानीय गैसकण तथा धूलकण भी सम्मिलित होते हैं। पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण इन सब वस्तुओं व घटकों, विशेषकर वाष्प व धूलकणों तथा इसके ऊपर वायुमण्डल की और परतों का कुल भार सदा ही पृथ्वी के हर स्थान पर व्याप्त रहता है।

इस क्षोभमण्डल में जितना ऊपर हम जाते हैं, इतना ही वहां का तापमान भी घटता चला जाता है। इस 28 कि॰ मी॰ मोटाई वाले ट्रोपोस्फ़ियर अथवा क्षोभमण्डल के लगभग 22 कि॰ मी॰ ऊपर तक के क्षेत्र अर्थात् स्ट्रेटोस्फ़ियर या समताप मण्डल में लगभग 42° सें॰ ग्रे॰ समतापमान वाली गरम वायु विद्यमान रहती है। यहीं ओज़ोन गैस होती है जो सूर्य की गरमी को जज़्ब कर इस क्षेत्र को गरम रखती है। वस्तुतः ओज़ोन एक विशेष प्रकार की ऑक्सीजन होती है जिसमें इसका एक अणु सामान्य ऑक्सीजन के दो परमाणुओं की बजाए ऑक्सीजन के तीन परमाणुओं से रचा होता है। वायुमण्डल की इस परत में गरम ओज़ोन की उपस्थिति भूमि पर रहने



वाले पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं एवं मानव जीवन की सुरक्षा हेतु अत्यन्त लाभकारी व आवश्यक है। यह गैस सूर्य की अत्यन्त तेज़ पराबैंगनी अथवा अल्ट्रावायलेट किरणों को समाहित कर पृथ्वी के जीवों की रक्षा में सहायक होती है, अन्यथा जीवों के लिए सूर्य की अत्यन्त तीव्र रोशनी व तपिश सहन करना असम्भव रहता।

पृथ्वी की सतह से 50 कि॰ मी॰ से लेकर ऊपर 1,000 कि॰ मी॰ तक की दूरी पर वायुमण्डल की और कई परतों की श्रृंखलाएं हैं जिनको आयोनोमण्डल के नाम से जाना जाता है। लगभग 100 कि॰ मी॰ की दूरी के ऊपर अधिकांश ऑक्सीजन परमाणुओं में विघटित हो जाती है तथा 150 कि॰ मी॰ ऊपर की दूरी पर नाईट्रोजन लगभग समाप्त सी हो जाती है। इस खण्ड में केवल ऐसे कण होते हैं जो सूर्य की विकिरणों से विद्युन्मय रहते हैं। अतः आयोनोस्फ़ियर की सर्वोच्च परत पर दिन का तापमान भी 1,650° सें॰ ग्रे॰ होता है। वस्तुतः यहां वायु और हल्की व पतली होती है और ज्यों-ज्यों ऊपर की ओर जाते जाएं, त्यों-त्यों यह वायु पतली-दर-पतली होती चली जाती है। आयोनोमण्डल रेडियो संचार तथा परावर्तन हेतु अत्यन्त कारगर होता है क्योंकि यहां की आयोनोकृत गैस ही कुछ विशेष रेडियो तरंग लम्बाइयों को परावर्तक की भूमिका निभाते हुए सहज ही पृथ्वी की वक्राकार सतह पर परावर्तित करती है।

आयोनोस्फ़ियर को इसकी कार्यक्षमता के अनुकूल तीन परतों में बांटा जाता है। 50 से 90 कि॰ मी॰ के बीच वाली 'डी' नामक परत में कुछ कम सघनता वाले युक्त इलेक्ट्रोन होने के कारण यह हल्की बारम्बारता वाली रेडियो तरंगों को परावर्तित करने की क्षमता रखते हैं। इससे ऊपर 90 से 150 कि॰ मी॰ वाली 'ई' नामक परत मध्यम बारम्बारता वाली रेडियो तरंगों तथा इससे और ऊपर 150 से 1,000 कि॰ मी॰ वाली 'एफ' परत सर्वोच्च सघनता वाले युक्त इलेक्ट्रोन से भरपूर होने के कारण सर्वोच्च बारम्बारता वाली रेडियो तरंगों को परावर्तित करती है।

क्योंकि आयोनोमण्डल 8mm से लेकर 20mm तक की तरंगों को परावर्तित नहीं कर सकता, ये प्रायः आकाश की ओर निकल जाती हैं। अतः दूरदर्शन इन तरंगों को कृत्रिम उपग्रह द्वारा परावर्तित कर अपने प्रसारणों को कारगर बनाता है। अन्ततः आयोनोमण्डल के ऊपर एक ऐसी परत आती है जिस बिन्दु पर वायुमण्डल वायु-रहित होकर शून्य की स्थिति बनाए रखता है। यह अवस्था पृथ्वी की सतह से ऊपर कोई 1,000 कि॰ मी॰ से लेकर 2,100 कि॰ मी॰ तक की दूरी पर बनती है।

पृथ्वी का वायुमंडल अत्यन्त समृद्ध है। यह प्रकृति की एक महत्त्वपूर्ण देन है, जिसके फलस्वरूप ही इस ग्रह पर न केवल ज़ीवन सम्भव है, परन्तु पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं एवं मानव के जीवन को समृद्ध बनाने की क्षमता भी है। किसी भी अन्य ग्रह का वायुमण्डल इतना रमणीय

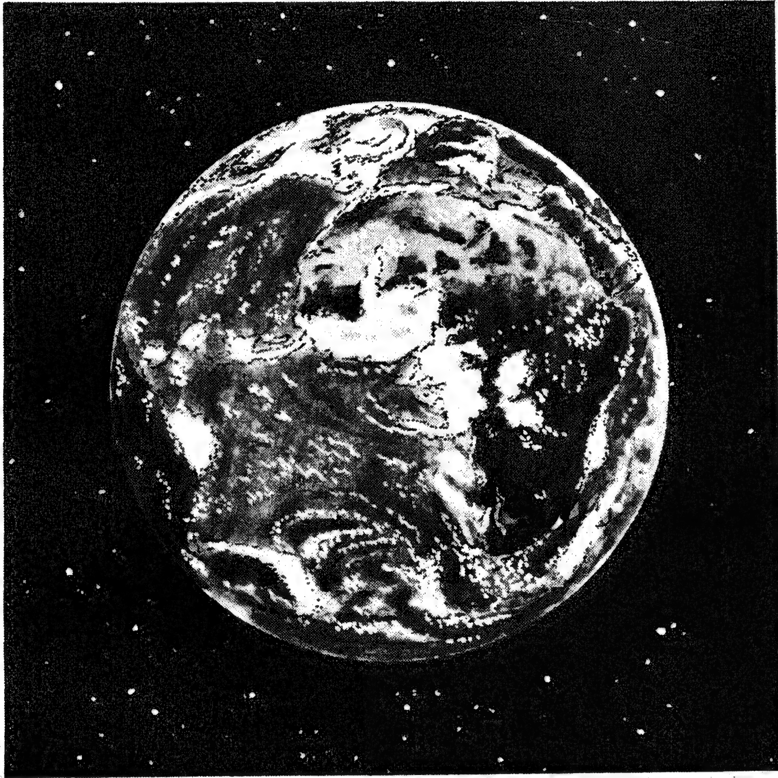
एवं जीवनप्रदायी नहीं हो सकता।

यह सिद्ध हो चुका है कि ज्यों-ज्यों हम ट्रोपोक्षेत्र में ऊपर जाते हैं, त्यों-त्यों तापमान भी घटता चला जाता है। प्रत्येक 300 मीटर ऊपर तापमान 2° सें. ग्रे. की दर से गिरता जाता है। ट्रोपोक्षेत्र के अन्तिम छोर पर यह तापमान 0° से. ग्रे. से 60° सें. ग्रे. तक गिर जाता है। यही कारण है कि भूमि की अपेक्षा ऊंचे-ऊंचे पर्वतों पर तापमान कहीं अधिक कम होता है। भूमि पर तापमान अपेक्षाकृत अधिक गरम रहता है क्योंकि सूर्य की किरणें बिना वातावरण को प्रभावित किए सीधी भूमि पर पड़ती हैं तथा भूमि भी फिर इस ऊष्मा को ऊपर वापिस वातावरण में पुनः प्रसारित करती है।

स्मरण रहे कि ऊंची-ऊंची उड़ानों में भी शरीर पर वांछित दबाव बनाए रखने के लिए वायुयानों में उड़ान की ऊंचाई के अनुसार दबाव रखा जाता है। लगभग 1 टन वायु का दबाव तो हमारे इर्द-गिर्द से हमें हर क्षण दबाए रखता ही है यह एक सामान्य तथ्य है। समुद्र तल पर तो यह दबाव और भी अधिक होता है क्योंकि यही वायुमण्डल का निम्नतल है। पहाड़ी व ऊंचे स्थानों पर यह दबाव कम होता है।

पृथ्वी संरचना

सामान्य रूप में पृथ्वी एक विशाल, ऊपर व नीचे से थोड़ी पिचकी-सी, गोलाकार गेंद के समान है। यह अधिकांशतया चट्टान की बनी हुई है। इसकी 10 से 50 कि॰ मी॰ गहरी ऊपरी परत तो प्रायः सख्त ठोस चट्टानों की बनी है, जिसे लिथोस्फियर या स्थलमण्डल कहा जाता है। इसी परत के ऊंचे भागों पर महाद्वीप बसे हुए हैं और इसके निचले भागों में महासागर, सागर, नदियों, झीलों आदि के जल समूह स्थित हैं इसे सामूहिक रूप से हाईड्रोस्फियर अथवा जलमण्डल की संज्ञा दी जाती है। इसके अतिरिक्त भूमि के ऊपर एक गैस रूपी वायुमण्डल होता है।



पृथ्वी की इस ऊपरी परत की दो तहें हैं। बाहरी परत, जिस पर महाद्वीप स्थित हैं, प्रायः ग्रेनाइट अर्थात् कणाश्म की बनी हुई है। इस परत की संरचना में विभिन्न घटक इस प्रकार हैं— ऑक्सीजन 47%, सिलिकान 28%, अल्युमिनियम 8%, लोहा 4.5%, कैल्शियम, सोडियम, पोटाशियम तथा मैगनीशियम की मिली-जुली मात्रा कोई 11%। इसके अतिरिक्त हाइड्रोजन, कार्बन, फ़ासफोरस तथा सल्फ़र कुल मिलाकर मात्रा 1% से भी कम होती है। इस ग्रेनाइट सतह के भीतर

अत्यन्त कठोर चट्टान की मोटी परत है जिसे बेसाल्ट अथवा असिताश्म कहा जाता है। पृथ्वी के अन्दर की चट्टान पिघली हुई है जबकि पृथ्वी का केन्द्रीय भाग फिर ठोस है। वैज्ञानिकों की धारणा है कि पृथ्वी के केन्द्र में कुछ रेडियोधर्मी तत्त्वों, अत्यन्त दबाव व गरमी के कारण पिघले हुए लोहे या धातुओं का एक विशाल गोला है जिसका व्यास लगभग 6,760 कि॰ मी॰ है। इसके केन्द्रीय गोले तथा चट्टानी परत के बीचोंबीच एक खोल है जिसे मैन्टल अथवा प्रावरण कहा जाता है, जिसकी मोटाई लगभग 2,900 कि॰ मी॰ गहराई तक है। यह प्रावरण एक प्रकार की चट्टान का बना हुआ है जिसे जैतूनी चट्टान कहा जाता है।

पृथ्वी पर गहरे कुएं तथा खदानें खोदते समय यह पता चला है कि ज्यों-ज्यों इनकी गहराई बढ़ाई जाती है, अन्दर का तापमान भी त्यों-त्यों उसी मात्रा में बढ़ता चला जाता है यहां तक कि पृथ्वी की परत के लगभग 3 कि॰ मी॰ अन्दर पहुंचने पर तापमान इतना अधिक हो जाता है कि यह जल को उबालने के लिए पर्याप्त है। अनुमान है कि प्रत्येक 40 कि॰ मी॰ भूमिगत होने पर तापमान 1° सें॰ ग्रे॰ की दर से बढ़ता जाता है। पृथ्वी के भीतर की जानकारी ज्वालामुखी फटने व भूचालों के अध्ययन से भी प्राप्त होती है। इन अध्ययनों से पता चलता है कि यह भीतरी तापमान उतनी तेज़ी से नहीं बढ़ता, जितनी तेज़ी से यह ऊपरी परत पर बढ़ता है। अतः इन वैज्ञानिकों की राय में पृथ्वी के केंद्रीय कक्ष में यह तापमान 5,500° सें॰ ग्रे॰ से अधिक नहीं हो सकता। फिर भी यह तापमान इतना अधिक तो है ही कि इससे चट्टानें पिघल सकती हैं। सामान्यतौर पर चट्टानें तो केवल 1,200° सें॰ ग्रे॰ तापमान पर ही पिघल जाती हैं। इसमें अन्ततः कोई संदेह नहीं कि पृथ्वी का केंद्रीय कक्ष अत्यन्त दबाव, गरमी एवं कुछ रेडियोधर्मी तत्त्वों के प्रभाव के फलस्वरूप गरम तथा पिघला हुआ रहता है। यही कारण है कि ज्वालामुखी फटने पर गरम गैसों तथा पिघली हुई चट्टानों का फूट पड़ना स्वाभाविक है। इसी प्रकार भूचाल द्वारा घटित हलचल व भूकम्प लहरों के एक्सरे-चित्रण से पृथ्वी के भीतरी भाग का अध्ययन भी किया जाता है। भूकम्प लहरें भिन्न-भिन्न प्रकार के भूमिगत पदार्थों के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न गति से चलती हैं। इनकी दिशा का भी ज्ञान होता है तथा पृथ्वी के भीतरी पदार्थ के प्रकार एवं मात्रा का भी अनुमान लगाया जाता है।

भूमि के कोई 2,800 कि॰ मी॰ भीतर भूकम्पीय तरंगें अपनी गति व दिशा आकस्मिक ही परिवर्तित कर देती हैं। उनमें से कुछ तो वहीं समाप्त हो जाती हैं जिससे भी यह अनुमान लगता है कि पृथ्वी की परतें भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों से बनी हुई हैं तथा इसका भीतरी भाग तरल पदार्थ-मात्रा ही है, जिसमें प्रायः पिघला हुआ लोहा, निकल आदि अनेक धातुएं हैं। ज्वालामुखी फटने का मुख्य कारण भी इन पिघले हुए पदार्थों का बढ़ता हुआ दबाव तथा ऊष्णता की तीव्रता ही है जो इस पिघले हुए पदार्थ को धकेल-धकेल कर ऐसे स्थान से विस्फोट घटित करने में सक्षम

होते हैं जहां से भूमि परत कुछ कमज़ोर होती है या फिर वहां पहले से कोई छिद्र आदि होता है। क्योंकि पिघले हुए पदार्थ के ऊंपर गैस रूपी तत्त्व अपना दबाव बनाए रखते हैं, अतः प्रायः ज्वालामुखी फटने से पहले गैस का रिसना या फटना स्वाभाविक है। यदि यह गैस धीरे-धीरे रिसकर लावा को बिना कोई तीखी ध्वनि किए फूटने व जलने के क्रम में सहायता करती है तो यहां शांत ज्वालामुखी घटित होता है और यदि इस क्रम में गैस फटने की तीखी आवाज़ तथा भीषण अग्नि के कारण जलता हुआ लावा फूटकर बाहर आता है तब जलता हुआ ज्वालामुखी घटित होता है। इस लावा के अध्ययन से न केवल भूमिगत ऊष्ण क्रम, गति आदि का ही पता चलता है, वरन् भूमिगत पदार्थों के बारे में भी जानकारी उपलब्ध होती है।

इसी प्रकार भूमिगत दबाव व तापमान के बढ़ते प्रभाव के कारण भूमिगत अस्त-व्यस्तता के फलस्वरूप या फिर भार भू-स्खलन न टकराव के कारण भूकम्प घटित होते हैं तथा भूमि के कम्पन के कारण भारी विनाश घटित होता है। भूकम्प की गति, इसके केन्द्र बिन्दु तथा इसके प्रभाव क्षेत्र को आंकने हेतु सिस्मोगाफ़ नामक उपकरण अब संसार भर के मौसम विभाग केन्द्रों में स्थायी रूप से स्थापित हैं। इसके प्रकोप का अन्दाज़ा 'रिचर स्केल' पर इसके परिमाण द्वारा लगाया जा सकता है। अब तक का सबसे ऊंचा परिमाण 8.9 का रहा है। 6.5 परिमाण से तक ऊपर का प्रकोप भी भयानक हो सकता है। भूकम्प के परिणामस्वरूप भी भूमि के भीतर पदार्थों आदि की जानकारी उपलब्ध होती है ।

यह भी अनुमान लगाया जा चुका है कि महाद्वीपों के नीचे पृथ्वी की सबसे ऊपरी चट्टानी परत कोई 30 से 50 कि॰ मी॰ मोटी है जब कि महासागरों के नीचे लगभग 5 कि॰ मी॰ तक।

ऐसी भी परिकल्पना की जाती है कि पृथ्वी का समस्त भूखण्ड किसी युग में आपस में जुड़ा हुआ था जो समय पाकर अलग भू-भागों अर्थात् महाद्वीपों में बंट गया।

कुछ पचास वर्ष पूर्व अल्फ्रेड बैगनर नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने महाद्वीपों के कभी आपस में जुड़े होने के विषय में एक परिकल्पना प्रस्तुत की, जिसे 'महाद्वीपों के विस्थापन सिद्धान्त' की संज्ञा दी जाती है। इस संप्रत्यय के अनुसार एक ऐसा भी समय था जब पृथ्वी के सभी भूमीय खण्ड एक निरन्तर महाद्वीप के रूप में परस्पर जुड़े हुए थे। तब कदाचित् किसी कारणवश ये भूमि-खण्ड आपस में बिछुड़ गए। दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका से कटकर अलग-थलग हो गया और उत्तरी अमरीका पश्चिमी यूरोप से। अन्य उपमहाद्वीप भी इसी प्रकार कटकर अलग-अलग हो गए। क्या वस्तुतः ऐसा ही हुआ जैसा कि बैगनर ने प्रस्तुत किया ? इस विषय में कुछ ठीक से कहा नहीं जा सकता। अभी तक तो यह एक परिकल्पना मात्र ही है।

बैगनर ने इस परिकल्पना को अपने एक अध्ययन के आधार पर प्रस्तुत किया। संसार

के मानचित्र का अवलोकन करते हुए दक्षिणी अटलांटिक महासागर के प्रतिमुख तटों को देखकर, वह चकित-सा रह गया। ब्राज़ील की तटीय रेखाओं अफ्रीकी तट पर बनी काट के बराबर अनुकूल आकार की रेखाओं से मिलाने पर एक ही उपमहाद्वीप दिखाई पड़ता है। इस रहस्य के आधार पर ही तो बैगनर ने अपनी परिकल्पना निर्मित की। इसके अतिरिक्त उसने इन दोनों उपमहाद्वीपों के इतिहास पूर्व पेड़ों तथा जीव-जन्तुओं के जीवन पर प्रकृतिवादियों द्वारा किए गए अध्ययन के आधार पर भी उनमें अनेक समानताएं पायीं, जिससे उसे विश्वास हो गया कि ये उपमहाद्वीप कभी आपस में जुड़े हुए थे। वस्तुतः आज भी पृथ्वी की परत विस्थापित होती प्रतीत होती है जिससे शायद यह कहना अनुचित नहीं कि बैगनर की परिकल्पना में कुछ सीमा तक सत्य तो अवश्य है।

ऋतु संरचना

पृथ्वी पर कई प्रकार की ऋतुएं विद्यमान हैं। मूलरूप से ऋतुओं को पांच वर्गों में बांटा जाता है तथा प्रत्येक वर्ग को पुनः कई उपवर्गों में विभक्त किया जाता है। ये पांच मुख्य प्रकार की ऋतुएं हैं—ऊष्णकटिबन्धीय, उपोष्णकटिबन्धीय, मध्य अक्षान्तरीय, उच्चअक्षान्तरीय तथा उच्चस्थानीय ऋतुएं।

उन ऋतुओं को ऊष्णकटिबन्धीय ऋतु की संज्ञा दी जाती है जो प्रायः 30° उत्तरी अक्षांश तथा 30° दक्षिणी अक्षांश क्षेत्र में विद्यमान रहती हैं। भूमध्य रेखा के निकटतम क्षेत्रों में नित्यप्रति ऊष्णकटिबंधीय वर्षा के फलस्वरूप सारा साल परिस्थितियां उष्ण तथा वर्षाप्रद रहती हैं। यही कारण है कि यहां वृक्षों की भरमार से मोटे-मोटे छायादार जंगल सदा ही बने रहते हैं। फिर भी इस उष्णकटिबन्ध क्षेत्र में कुछ ऐसे भी स्थान हैं जहां की जलवायु ऊष्णकटि नम एवं शुष्क होती है; जहां केवल उष्णकटि सवाना या घास के मैदान ही हैं क्योंकि यह क्षेत्र इतना सूखा है कि यहां जंगल जैसी कोई व्यवस्था बन ही नहीं सकती; जहां इससे भी अधिक शुष्क ऊष्णकटि स्टीप के घास के मैदान हैं; तथा जहां सदैव ऊष्णकटि मरुस्थल अनुकूल वातावरण ही व्याप्त रहता है।

इसी प्रकार उपोष्णकटिबन्ध जलवायु क्रमशः 30° से 40° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांश क्षेत्रों में बनी रहती है। इन क्षेत्रों में भूमध्य सागरीय जलवायु अर्थात् गरम शुष्क ग्रीष्म ऋतु तथा मन्द भीगी-भीगी शरद ऋतु और उपोष्णकटिबन्ध ऋतु अर्थात् नमी भरपूर ग्रीष्म जलवायु तथा मन्द शरद



जलवायु-सी बनी रहती है और साथ ही साथ जंगलों को बनाए रखने हेतु सभी ऋतुओं में पर्याप्त मात्रा में वर्षा भी होती रहती है।

उत्तर व दक्षिण 40° से 60° अक्षांश क्षेत्रों में मध्य अक्षांश जलवायु व्याप्त रहती है। इसमें पश्चिमी सागर छोर जैसी ऋतु, ठंडी स्टीप अथवा ठंडी मरुस्थलीय जलवायु और नमीदार महाद्वीपीय जलवायु बनी रहती है जिसके फलस्वरूप यहां प्रत्येक ऋतु में भिन्न-भिन्न प्रकार के पेड़-पौधे तथा वर्षा क्रम भी बने रहते हैं।

60° अक्षांश से ध्रुवों तक उत्तर व दक्षिणी क्षेत्रों की जलवायु उच्च अक्षांशीय ऋतु का द्योतक है। इन क्षेत्रों में विशेष रूप से शरद ऋतु तो अत्यन्त ठंडी होती ही है, यही ग्रीष्म ऋतु भी प्रायः कुछ ठंडी ही रहती है। इन क्षेत्रों में 'टैगा टाईप' अत्यन्त ठंडी शरद ऋतु व्याप्त रहती है तथा टुंडरा टाईप जलवायु भी, जिसमें केवल घास, काई तथा पत्थर-फूल ही उग सकते हैं; और ध्रुवी जलवायु भी जिसके फलस्वरूप यहां सदा विशाल बर्फ की चोटियां व्याप्त रहती हैं।

ध्रुवी क्षेत्रों को दो भागों में बांटा जा सकता है अर्थात् उत्तरी ध्रुव क्षेत्र तथा दक्षिणी ध्रुव क्षेत्र। यद्यपि वे अक्षांशीय स्थिति में उत्तर तथा दक्षिण में एक समान प्रतीत होती हैं, फिर भी उनमें कुछ रहस्यमय अन्तर विद्यमान है। उत्तरी ध्रुव अथवा आर्कटिक क्षेत्र दक्षिणी ध्रुव अथवा अंटार्कटिका क्षेत्र से अधिकांशतया भिन्न है। इन दोनों में ऋतुओं के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण अन्तर रहता है। इसी कारण इन क्षेत्रों का वातावरण भी एक समान नहीं होता। अंटार्कटिका तो वस्तुतः बर्फ़ से ढंका एक महाद्वीप-सा है जबकि आर्कटिका प्रायः एक महासागर-सा है। अंटार्कटिका क्षेत्र अधिकांशतया विशाल बर्फ़ की टोपियों से घिरा होने के कारण आर्कटिका की अपेक्षा सामान्य तापमान हिमांक से भी कहीं नीचे रहता है। विशेषकर शरद ऋतु में तो यह इस बिन्दु से नीचे रहता ही है। यहां सर्दियों में संसार के सबसे बड़े बर्फ़ानी तूफ़ान आते रहते हैं। इस क्षेत्र में इसी कारण न कोई मूल निवासी जनसंख्या ही है और न कोई धर्ति कर पशु या पौधा ही। यहां तो पैंगुइन ही पैंगुइन प्रसन्नता से रहते हैं तथा केवल घास, काई व कुछ पथरीले फूल ही होते हैं। इसके विपरीत उत्तरी ध्रुव क्षेत्र में मनुष्य, पशु एवं पेड़-पौधे धीरे-धीरे यहां के वातावरण के अनुरूप अनुकूलित हो चुके हैं क्योंकि इसके सागरीय तट उत्तरी अमरीका, यूरोप, तथा एशिया के निकट हैं। इस क्षेत्र में सागर जल से हवा के झोंके उठते हैं तथा यहां के तापमान को कुछ बढ़ा देते हैं। स्पष्ट है कि ध्रुवी क्षेत्रों में भी ऋतुएं भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।

आखिर ऋतु विभिन्नता के कारण क्या है ? पृथ्वी का आकार गोल तथा इसकी सतह वक्र होने के परिणामस्वरूप सूर्य की गरमी का सबसे अधिक प्रभाव विषुवतरेखा तथा सबसे कम प्रभाव ध्रुवों पर रहता है। सूर्य की किरणें भूमध्यरेखा पर लम्बवत् पड़ती हैं तथा ध्रुवों पर अत्यन्त तिरछी

व कोणवत्। जहां सूर्य प्रकाश की किरणें लम्बवत् होती हैं, वहां इन किरणों को वायुमंडल के कम क्षेत्र से होकर आना पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप किरणों की कुछ अधिक गरमी वायुमण्डल द्वारा जज़्ब कर ली जाती है। भूमध्य रेखा क्षेत्र में किरणें लम्बवत् होने से वहां अपेक्षाकृत गरमी का प्रकोप अधिक होता है क्योंकि इन किरणों की कुछ कम गरमी ही वायुमण्डल में जज़्ब होती है। यही कारण है कि भूमध्य क्षेत्र में ध्रुवी क्षेत्रों तथा शीतोष्ण कटिबन्ध एवं ऊष्णकटिबन्ध क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक गरमी रहती है। निःसन्देह सूर्य की गरमी तथा सौर ऋतु के अनुरूप पृथ्वी के विषुवत् क्षेत्र में गरमी का प्रकोप सबसे अधिक होता है। अतः वे क्षेत्र जो भूमध्य रेखा से जितने दूर होते हैं, वहां सौर गरमी का प्रत्यक्ष प्रभाव भी उसी अनुपात में कम होता चला जाता है।

सूर्य की गरमी तथा सौर ऋतु के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे घटक हैं जो पृथ्वी के विभिन्न भागों पर ऋतु के स्वरूप को बनाए रखने में अपना-अपना योगदान प्रदान करते हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्व है जल, भूमि तथा ऊंचाई जैसे घटकों का। ये सब संयुक्त एवं निजी रूप से किसी भी स्थान पर अपना ऋतु प्रभाव बनाए रखते हैं, यद्यपि इनके इस प्रभाव का पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रों से कोई सीधा व विशेष सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ, भूमध्य क्षेत्र में भी कुछ ऐसे स्थान अवश्य हैं, जहां बर्फ़ सें ढकी पर्वतों की चोटियां विद्यमान हैं तथा भूमध्य क्षेत्र से अति दूर भी कुछ ऐसे स्थान हैं, जहां भूमध्य क्षेत्र के अत्यन्त गरम स्थान से भी अधिक गरमी पड़ती है। अफ्रीका स्थित पर्वतमालाएं व जंगल इसी तथ्य का प्रमाण हैं।

फिर भी इस सत्य को कदापि नकारा नहीं जा सकता कि भूमध्य क्षेत्र ही पृथ्वी पर सबसे अधिक गरम क्षेत्र है क्योंकि भूमध्य क्षेत्र पृथ्वी पर एक ऐसा स्थान है जहां सूर्य की किरणें प्रायः वर्ष भर ही एक समान लम्बवत् पड़ती रहती हैं तथा इस प्रक्रम में यहां सदा ही गरमी का प्रकोप बना रहता है। यहां दिन में अत्यन्त गरमी के कारण नित्य प्रतिदिन के तीसरे पहर अर्थात् उपराह्न समय वर्षा हो जाती है जिसके फलस्वरूप यहां घने जंगलों की भरमार है।

इसी से सम्बन्धित एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी जुड़ा है कि क्या पृथ्वी सूर्य से सदा लगभग एक समान दूरी पर ही रहती है और यदि इस दूरी में कभी कोई अन्तर आता है तो क्या इसका ऋतु परिवर्तन पर कोई विशेष प्रभाव पड़ता है ?

पृथ्वी से सूर्य की दूरी तो सदा ही लगभग एक समान रहती है। ऋतु परिवर्तन के समय भी इस दूरी में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। इस समय घटित लघु मात्र दूरी में परिवर्तन, सूर्य तथा पृथ्वी के मध्य विशाल दूरी के समक्ष, नाममात्र ही रहता है जिससे पृथ्वी पर सामान्य ऋतु परिवर्तन के अतिरिक्त कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

ऋतु परिवर्तन मुख्यतः पृथ्वी की सूर्य से भिन्न-भिन्न दूरी के फलस्वरूप न होकर, पृथ्वी के

अपने अक्षीय झुकाव पर निर्भर करता जिसे बनाए रखते हुए पृथ्वी सूर्य की निरन्तर परिक्रमा करती रहती है। पृथ्वी का यह अक्ष ऊर्ध्वाधर न होकर 66½° का कोण बनाते हुए कक्ष तल पर झुका हुआ रहता है। इस झुकाव पर ही पृथ्वी द्वारा सूर्य परिक्रमण एवं अपने ही अक्ष पर घूर्णन निरन्तर चलते रहते हैं। पृथ्वी की भूमध्य रेखा पृथ्वी के सूर्य परिक्रमा पथ की ओर 23½° पर झुकी हुई है। अतः जब पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, तब पृथ्वी का अक्ष भी सदा इसी दिशा में उत्तरी ध्रुव की ओर संकेतरत रहता है। इसी कारण वर्ष में कुछ समय तक उत्तरी ध्रुव सूर्य की ओर झुकी तथा कुछ समय तक इससे परे हटकर ही रहती है। अतः जब उत्तरी ध्रुव सूर्य की ओर झुकी होती है, तब वहां अर्थात् उत्तरी गोलार्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है और जब उत्तरी ध्रुव सूर्य से परे की ओर झुकी होती है, तब उत्तरी गोलार्ध में शरद ऋतु होती है। इनके विपरीत दक्षिणी गोलार्ध में क्रमशः इनके उल्टी ऋतुएं होती हैं। जब उत्तरी गोलार्ध में गरमी होती है तब दक्षिणी गोलार्ध में सर्दी और जब उत्तरी गोलार्ध में सर्दी होती है तब दक्षिणी गोलार्ध में गरमी होती है। गोलाकार तथा अपने अक्ष पर झुकी होने के कारण पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव क्रमशः छः मास के लिए सूर्य के समक्ष एवं विमुख रहते हैं जिसके फलस्वरूप ध्रुवों पर बारी-बारी छः-छः मास तक दिन एवं छः-छः माह की रातें होती हैं।

अपने अक्ष पर झुके-झुके पृथ्वी के घूर्णन एवं परिक्रमण से दिन व रात की लम्बाई भी घटती बढ़ती रहती है। 21 मार्च और 23 सितम्बर को सूर्य विषुवत् रेखा पर ऊर्ध्वाधर रहता है। तब प्रकाशवृत्त उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों से होकर गुज़रता है जिसके फलस्वरूप दिन व रात की अवधि एक समान अर्थात् बारह-बारह घंटे की होती है। इन दिनों को विषुव दिन की संज्ञा दी जाती है। 21 मार्च को बसन्त विषुव तथा 23 सितम्बर को शरत् विषुव कहते हैं । इस छः महीने की अवधि में उत्तरी ध्रुव-वृत्तीय भाग में कभी सूर्यास्त नहीं होता, अतः वहां छः मास के लिए ग्रीष्म ऋतु रहती है। इसके विपरीत दक्षिणी ध्रुव-वृत्तीय भाग में तब छः मास की रात व शरद ऋतु रहती है। अगले छः मास में यह प्रक्रम विपरीत दिशा में होता है। अतः 21 मार्च से 23 सितम्बर तक के अन्तराल में सूर्य अधिकांशतया उत्तरी गोलार्ध में तथा 23 सितम्बर से 21 मार्च तक की अवधि में दक्षिणी गोलार्ध में रहता है।

इसी प्रकार 21 जून को सूर्य कर्क रेखा पर ऊर्ध्वाधर होता है और 22 दिसम्बर को मकर रेखा पर, जिसके कारण 21 जून को पृथ्वी सूर्य से सर्वाधिक कोई 15.2 करोड़ कि॰ मी॰ और 22 दिसम्बर को अत्यधिक निकट कोई 14.7 करोड़ कि॰ मी॰ की दूरी पर होती है जिन अवस्थाओं को क्रमशः 'रवि उच्च' व 'रविनीय' की संज्ञा दी जाती है। इन अवस्थाओं में सूर्य तथा पृथ्वी की दूरी में लगभग 51 लाख कि॰ मी॰ का अन्तर पड़ता है जो पृथ्वी व सूर्य के बीच की कुल

दूरी का केवल एक अल्पमात्र अंश है, जिसके कारण कुछ ऋतु परिवर्तन के अतिरिक्त पृथ्वी पर कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

पृथ्वी के घूर्णन तथा परिक्रमण सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न और भी हैं। पृथ्वी अपने अक्ष पर पश्चिम से पूर्व दिशा में अपना प्रत्येक घूर्णन लगभग 24 घंटे तथा सूर्य के इर्द-गिर्द अपनी परिक्रमा एक वर्ष में सम्पन्न करती है। यह घूर्णन व परिक्रमण क्रम निरन्तर चलता रहता है। फिर भी क्या कारण है कि यदि पृथ्वी निरन्तर घूम रही है, तो इस पर रहने वाली वस्तुएं व जीव-पदार्थ दूर-दूर क्यों नहीं उड़ते जाते और हम इस घूर्णन व परिक्रमण को अनुभव क्यों नहीं करते ? इन प्रश्नों के उत्तर को समझने के लिए दो प्रमुख घटकों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। जब पृथ्वी घूम रही है तब हम सब भी इसकी तल पर इसी के साथ-साथ घूम रहे हैं और इसी प्रकार वायु एवं समुद्रों का जल जो इसके चारों ओर व्याप्त है भी इसी के साथ गतिमान रहते हैं। दूसरा यह कि पृथ्वी अपनी गुरुत्वाकर्षण शक्ति से सभी पदार्थों को पृथ्वी पर ही सटाए रखती है। यह शक्ति समुद्रों के जल व वायु को भी इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षण द्वारा पकड़े रखती है।

यहां यह जानना भी रोचक है कि क्या सभी स्थानों जैसे पृथ्वी व आकाश पर गुरुत्वाकर्षण एक समान है ? तथा इसका सामान्य स्वभाव कैसा है ? गुरुत्वाकर्षण बल मुख्य रूप से दो महत्त्वपूर्ण घटकों अर्थात् वस्तुओं के पदार्थ वजन तथा उनके बीच की दूरी पर निर्भर करता है। ठोस पदार्थ की अधिक मात्रा वाले पिण्डों तथा अधिक निकट वस्तुओं में गुरुत्वाकर्षण बल भी अधिक होगा। उदाहरणार्थ, पृथ्वी में चन्द्रमा की अपेक्षा पदार्थ की मात्रा अधिक होने के फलस्वरूप इसकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति भी अधिक है। इसी प्रकार सागर के निकटतम किनारे पृथ्वी पर दूर ऊंचे पहाड़ों की चोटियों की अपेक्षा गुरुत्वाकर्षण शक्ति अधिक होती है।

ज्यों-ज्यों हम पृथ्वी से दूर जाते हैं, त्यों-त्यों इसकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति कमज़ोर होती चली जाती है। फलतः दूर आकाश में पहुंचने पर तो गुरुत्वाकर्षण का आभास तक नहीं रहता। यहां भारहीनता जैसी अवस्था होने के परिणामस्वरूप वस्तुएं आकाश में भारहीन हो सुगमता से तैरती हैं। आकाश में केवल निर्वात शून्य है, किसी प्रकार की पदार्थ-मात्रा नहीं तथा अति दूर होने के कारण यहां कोई गुरुत्वाकर्षण शक्ति भी नहीं। किसी प्रकार की बाधा न होने के कारण आकाशीय अंग अपनी-अपनी निश्चित गति से अपने-अपने पथ पर विद्यमान रहते हैं। यही कारण है कि आकाश व पृथ्वी पर गुरुत्वाकर्षण बल एक समान नहीं होते।

किसी भी वस्तु का भार इस सिद्धान्त पर आधारित है कि उसमें पदार्थ-मात्रा कितनी है तथा वह कितनी गुरुत्वाकर्षण शक्ति से खिंचा जा रहा है। ये दोनों तत्त्व वस्तुतः इस तथ्य पर भी निर्भर करते हैं कि इन पदार्थों के बीच की दूरी कितनी है। जितने बड़े पदार्थ पिण्ड होंगे, उतनी

बड़ी उनमें गुरुत्वाकर्षण शक्ति भी होगी तथा आपस में जितने दूर ये पिण्ड होंगे, उतनी ही कमज़ोर उनमें गुरुत्वाकर्षण शक्ति होगी। पृथ्वी का भार तथा उसकी पदार्थ-मात्रा नापने में भी इन्हीं सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है। कोई भी छोटा-सा भार रस्सी में लटकाकर स्थिर स्थिति में स्थापित कर एक टन सिक्के का भार इसके निकट रखकर लटके हुए भार की विस्थापन रेखा के परिमाप से वैज्ञानिक पृथ्वी की आकर्षण शक्ति, इसके भार तथा इसके पदार्थ मात्रा का अनुमान लगाते हैं।

यद्यपि हम पृथ्वी के घूर्णन का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करते, फिर भी कुछ ऐसे तत्त्व व घटनाएं प्रतिदिन घटती रहती हैं जिनके फलस्वरूप न केवल भूमि घूर्णन का अवलोकन ही होता है, परन्तु उसका अनुभव भी होता है। घूर्णन के फलस्वरूप दिन व रात घटित होते हैं तथा परिक्रमण के फलस्वरूप समयबद्ध भिन्न-भिन्न ऋतुएं आती हैं। यदि पृथ्वी घूर्णन न करती होती तब पृथ्वी के उस भाग में, जो सदैव सूर्य के सामने रहता, सदा दिन ही रहता तथा उस भाग में, जो सूर्य की रोशनी से वंचित रहता, उसमें सदैव रात ही रहती।

पृथ्वी की सम्पूर्ण सतह केवल 24 घंटे के भीतर ही सूर्य के प्रकाश के सामने घूमकर चक्कर काटती रहती है जिससे दिन और रात घटित होते हैं। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि पृथ्वी अपने अक्ष पर 24 घंटे में एक बार घूर्णन करती है जिसका अनुभव हम नित्य-प्रतिदिन व रात के रूप में करते हैं। इसी प्रकार साथ ही साथ पृथ्वी द्वारा सूर्य के इर्द-गिर्द वर्ष में एक बार परिक्रमण के फलस्वरूप हम ऋतु परिवर्तन का भी अनुभव करते हैं।

आखिर दिन-रात किस प्रकार बनते हैं ? पृथ्वी सूर्य के इर्द-गिर्द तथा अपनी धुरी पर परिक्रमण तथा घूर्णनरत रहती है। परिक्रमा में 365¼ दिनों से कुछ अधिक का समय लगता है जबकि घूर्णन पर 24 घंटे से कुछ कम समय लगता है। परिक्रमण से वर्ष तथा घूर्णन से दिन-रात की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी के घूर्णन से ऋतु-परिवर्तन भी घटित होते हैं। दिन-रात को मापने हेतु साईडरियल या नक्षत्रीय घड़ी प्रयुक्त होती है।

उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों पर छः महीने के दिन व रात घटित होना भी इसी तथ्य का प्रमाण है। क्योंकि पृथ्वी अपने अक्ष पर झुकी हुई ही घूमती है जिसके फलस्वरूप जब उत्तरी ध्रुव निरन्तर छः मास तक सूर्य के सामने होती है तब दक्षिणी ध्रुव इसकी विपरीत दिशा में रहकर छः महीने तक अन्धेरे में ही रहती है। पृथ्वी का यह झुकाव 23½° का है जिससे क्रमशः प्रत्येक ध्रुव छः-छः मास तक रोशनी व अन्धेरे में रहती है। रोशनी वाले भाग में छः मास का दिन एवं ग्रीष्म ऋतु तथा अंधेरे वाले भाग में छः मास की रात एवं शरद ऋतु रहती है। अतः यदि हम पृथ्वी के घूर्णन को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं करते फिर भी इस तथ्य के अनेक अप्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं।

सूर्य की किरणों का कम व अधिक तिरछा होना भी ऋतु परिवर्तन में सहायक होता है। जब सूर्य की किरणें अधिक तिरछी होती हैं, तब शरद ऋतु होती है और जब सूर्य की किरणें कम तिरछी होती हैं, तब ग्रीष्म ऋतु होती है। अधिक तिरछी किरणें अपनी गरमी को पृथ्वी के अधिक क्षेत्र पर फैला देती हैं। इस प्रकार वे अपनी अधिकतर गरमी वायुमण्डल में से गुज़रती हुई वहीं गंवा देती हैं, जिसके फलस्वरूप गरमी का प्रकोप कम हो जाता है तथा सर्दी की सम्भावना अधिक हो जाती है। एक तथ्य और। ऋतु परिवर्तन में दिन की लम्बाई का भी विशेष योगदान रहता है। जिस गोलार्ध में दिन की अवधि रात्रि की अवधि की अपेक्षा अधिक लम्बी होती है वहां ग्रीष्म ऋतु होती है, और इसके विपरीत जिस गोलार्ध में रात्रि की अवधि दिन की अवधि की अपेक्षा अधिक लम्बी होती है, वहां शरद ऋतु होती है।

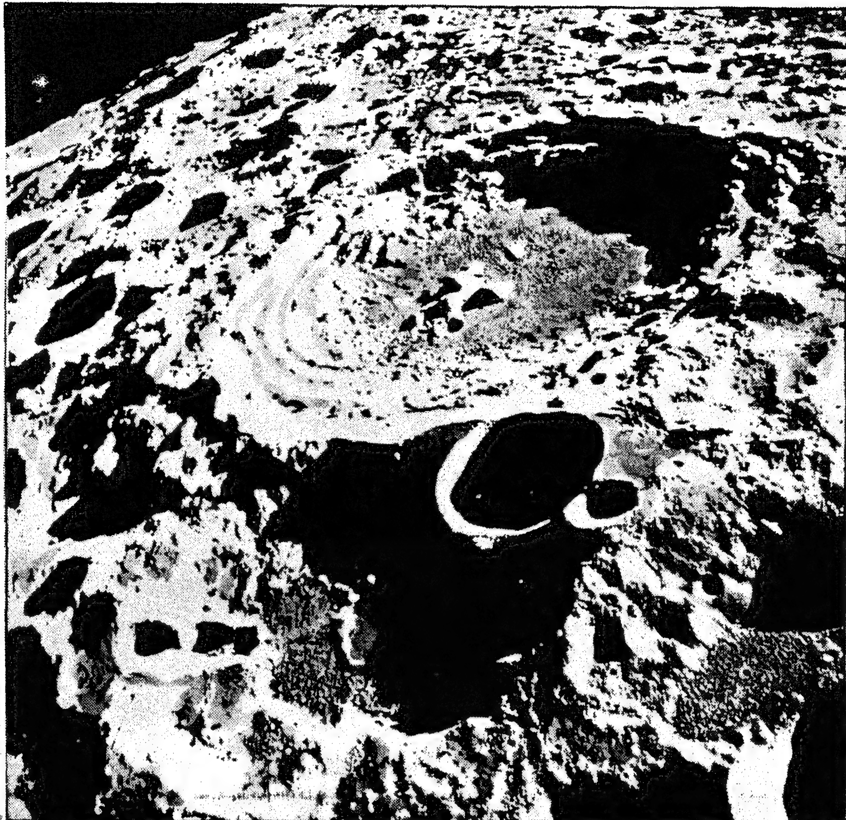
कुछ अन्य घटक भी ऋतु के सम्बन्ध में अपना-अपना दायित्व प्रदर्शित करते हैं। उदाहरणार्थ जल, थल एवं ऊंचाई जैसे घटक भी ऋतु नियन्त्रण में सहायक होते हैं। जल स्थिरता प्रधान होने के फलस्वरूप तापमान में अधिक परिवर्तन का एक बड़ा अवरोधक है। भूमि, सागर की अपेक्षा अधिक गरमी को संचित नहीं कर सकती, जिसके परिणामस्वरूप भूमि के विशाल भागों में तापमान में अत्यधिक परिवर्तन हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा अधिक ऊष्ण हो। क्योंकि दक्षिणी गोलार्द्ध में जल भाग थल भाग की अपेक्षा अधिक है, अतः यहां ऊष्णता का प्रभाव कुछ कम रहता है। इसके विपरीत, उत्तरी गोलार्द्ध में, थल क्षेत्र अधिक होने के कारण, यहां ऊष्णता का प्रकोप अधिक रहता है। इसी प्रकार समुद्र तल से दूर ऊंचे स्थानों पर भी तापमान कम रहता है।

चन्द्रमा का वायुमण्डल

चन्द्रमा का वातावरण सम्पूर्णतः शान्त रहता है क्योंकि न वहां वायु है और न ही जल। चन्द्रमा का वायुमण्डल पूरी तरह से वायुरहित है। वहां वायुशून्य स्थिति ही विद्यमान रहती है। वायु और जल के अभाव में वहां किसी प्रकार के जीवन की कोई सम्भावना ही नहीं। चन्द्रमा का गोलाकार पृष्ठीय भाग पूर्णतया शुष्क है। आश्चर्य तो इस बात का है कि दूर से यह कई सागरों के समान प्रतीत होता है—कहीं पर यह शान्त सागर, कहीं पर तूफानी सागर, कहीं पर वर्षा सागर, तो कहीं पर स्वच्छ सागर आदि के रूप में। यहां पर अनेक पर्वतमालाएं एवं बड़ी-बड़ी खाइयां भी दिखाई देती हैं, परन्तु वायु व जल के अभाव में ये सब शान्त अवस्था में ही बनी रहती हैं।

चन्द्रमा का व्यास 3,476 कि॰ मी॰ है तथा यह पृथ्वी से 3,84,400 कि॰ मी॰ की दूरी पर स्थित है। यह दूरी न कभी घटती और न कभी बढ़ती ही है। यह सदैव एक समान ही रहती है। चन्द्रमा का गुरुत्वाकर्षण भी पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का केवल छठा भाग ही है जिसके परिणामस्वरूप भार अथवा गति के कारण भी इस पर किसी प्रकार की कोई हलचल नहीं होती। वायु और जल के अभाव के साथ-साथ चन्द्रमा पर गुरुत्वाकर्षण भी निम्नतम होने के परिणामस्वरूप चन्द्रमा का वायुमण्डल सम्पूर्णतया शान्त रहता है। जल व वायु के अभाव में चन्द्रमा का आकाश सदैव शून्य व काला दिखाई देता है। यही कारण है कि चन्द्रमा पर कोई वायुमण्डल ही नहीं बन पाता, जिसके परिणामस्वरूप चन्द्रमा की सतह पर सूर्य की विकिरणें अत्यन्त गरमी व अत्यन्त सर्दी का प्रकोप बनाए रहती हैं। चन्द्रमा का वह भाग जो सूर्य के समक्ष रहता है, वहां 150° सें॰ ग्रे॰ से अधिक तापमान हो जाता है और शेष भाग पर −125° से −200° सें॰ ग्रे॰ अर्थात् शून्य से भी 125° से 200° तक नीचे चला जाता है। वायु के अभाव के कारण सूर्य विकिरणीकरण भी चन्द्रमा पर सीधा व तीखा प्रभाव डालता है। अतः यहां किसी प्रकार के जीव-जन्तुओं हेतु सुरक्षित वातावरण की सम्भावना ही नहीं बनती। यहां 15 दिनों तक निरन्तर लम्बे दिन और 15 ही दिनों की निरन्तर लम्बी रातें होती हैं। चन्द्रमा पर वायुमण्डल के अभाव में प्रभात अथवा सायं जैसी कोई अवस्था नहीं बनती। चन्द्रमा पर तो तुरन्त सम्पूर्ण रोशनी या फिर तुरन्त शून्य व शान्तमय घोर अन्धेरा ही रहता है। चन्द्रमा का वायुरहित मण्डल तो सूर्य के प्रकाश व ऊष्मा विकिरणों से किसी प्रकार की जीवन-सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता, जबकि पृथ्वी का वायुयुक्त वायुमण्डल इस कार्य को भली-भांति निभाता है।

प्रश्न यह उठता है कि चन्द्रमा आखिर भिन्न-भिन्न आकार का क्योंकर होता रहता है ? चन्द्रमा तो पृथ्वी का ही एक उपग्रह है । यह पृथ्वी के इर्द-गिर्द निरन्तर परिक्रमारत रहता है और



साथ ही साथ अपने अक्ष पर भी घूमता रहता है। चन्द्रमा अपने कक्ष में उसी दिशा में परिक्रमा करता है जिस दिशा में पृथ्वी सूर्य के इर्द-गिर्द अपने अक्ष पर घूमती है। चन्द्रमा एवं पृथ्वी के अक्ष लगभग समानान्तर ही हैं। चन्द्रमा पृथ्वी के इर्द-गिर्द परिक्रमा तथा अपने ही अक्ष पर एक चक्कर सम्पूर्ण करने में लगभग एक समान समय अर्थात् 27$^1/_3$ दिन लगाता है। परिणामस्वरूप चन्द्रमा की एक ही सतह सदैव पृथ्वी के सामने रहती है। फलतः इसकी केवल 59 प्रतिशत सतह ही दृष्टिगोचर होती है जबकि इसकी शेष सतह कभी भी दिखाई नहीं पड़ती। वस्तुतः चन्द्रमा की एक ही सतह सदैव पृथ्वी के सामने रहती है।

यह भी सत्य है कि अन्य ग्रहों की भान्ति न ही चन्द्रमा और न ही पृथ्वी का कोई अपना प्रकाश है। ये सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं तथा इसी प्रकाश को परावर्तित करते हैं। अतः रात के समय चन्द्रमा द्वारा सूर्य के प्रकाश के परावर्तन से पृथ्वी पर से देखते हुए चन्द्रमा चमकता दिखाई देता है और दिन में पृथ्वी द्वारा सूर्य के प्रकाश के परावर्तन से चन्द्रमा पर से देखते हुए पृथ्वी चमकती दिखाई देती है। अतः चन्द्रमा व पृथ्वी को सितारों की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि इनका अपना कोई प्रकाश नहीं होता।

स्मरण रहे कि चन्द्रमा का पूर्ण रूप से प्रकाशित अर्धगोला महीने में केवल एक ही बार दृष्टिगोचर होता है तथा महीनें में एक ही बार यह पूर्ण रूप से लुप्त हो जाता है। इन अवस्थाओं को क्रमशः पूर्णमा तथा अमावस्या की संज्ञा दी जाती है। जबकि अमावस्या के बाद चन्द्रमा की प्रकाशित गोलाकार सतह दिन-प्रतिदिन निरन्तर उत्तरोतर बढ़ती चली जाती है और पूर्णिमा को सम्पूर्ण गोलाकार दिखाई देती है, पूर्णमासी के बाद चन्द्रमा की प्रकाशित गोलाकार सतह दिन-प्रतिदिन निरन्तर घटती चली जाती है और अमावस्या को सम्पूर्णतया लुप्त हो जाती है। इन अवस्थाओं को ही शुक्ल पक्ष व कृष्ण पक्ष की संज्ञा दी जाती है। अमावस्या के उपरान्त चन्द्रमा फिर अपने न्यूनतम चाप-आकार के नवीन चन्द्रमा के नए रूप को लेकर अपनी यात्रा पुनः आरम्भ करता है। इन अवस्थाओं को चन्द्रकलाओं की संज्ञा दी जाती है। इन कलाओं के परिणामस्वरूप ही चन्द्रमा दिन-प्रतिदिन भिन्न आकार का प्रतीत होता है क्योंकि इन चरणों में चन्द्रमा के आंशिक भाग ही सूर्य की रोशनी को पृथ्वी के सम्मुख परावर्तित करते हैं। इन चन्द्रकलाओं की एक सम्पूर्ण यात्रा में लगभग 29½ दिन से कुछ अधिक समय लगता है।

पृथ्वी के वायुमण्डल के बाहर आकाश में केवल एक पिण्ड चन्द्रमा ही ऐसा है जिस पर उतरने का श्रेय मानव को सर्वप्रथम 1969 में प्राप्त हुआ। मानव की यह यात्रा अत्यन्त रोचक रही। क्योंकि वहां से पृथ्वी का प्रतिबिम्ब देखते ही बनता है। पृथ्वी भी वहां से चन्द्रमा के समान ही चमकती दिखाई देती है तथा यात्री के साथ-साथ चलती हुई भी ठीक उसी प्रकार जैसे पृथ्वी पर रेल यात्रा के दौरान चन्द्रमा भी यात्री के साथ-साथ आगे ही चलता दिखाई देता है। आखिर ऐसा क्यों होता है ?

प्रायः यह देखा जाता है कि गाड़ी में यात्रा करते समय भूमि पर स्थित सभी दृष्टिगोचर वस्तुएं जैसे पेड़-पौधे, घर-मकान, जंगल-झाड़ियां, सड़क, रेल-पथ आदि पीछे की ओर यात्रा की विपरीत दिशा में भागती दिखाई पड़ती हैं। परन्तु आकाश में सितारों व चन्द्रमा की ओर देखते हुए ये पीछे की ओर अथवा विपरीत दिशा में भागते प्रतीत नहीं होते, अपितु ये तो हमारे साथ-ही-साथ चलते दिखाई देते हैं। आखिर ऐसा क्यों होता है ? क्या यह किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया मात्र है ? या फिर किसी प्रकार का केवल आभास भ्रम ?

इस प्रक्रिया में वस्तुतः एक वैज्ञानिक तथ्य निहित है। भूमि पर स्थित सामने दिखाई देने वाली वस्तुएं न केवल दृष्टि की परिसीमाओं के अन्दर ही अन्दर प्रत्यक्ष क्षितिज से सीमाबद्ध रहती हैं वरन् गाड़ी की गति-सीमा के साथ-साथ उनका गाड़ी के समक्ष हर क्षण कोण भी परिवर्तित होता जाता है जिसके फलस्वरूप ये सब वस्तुएं गाड़ी से पीछे की ओर भागती प्रतीत होती हैं। परन्तु इस प्रकार की कोई प्रक्रिया तारों व चन्द्रमा के साथ घटित नहीं होती। भूमि से अत्यन्त दूर तथा

व्यापक व्यास के कारण चन्द्रमा की स्थिति में तथा गाड़ी और इसके बीच इस अल्प समय अन्तराल में बने कोण में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अतः हमारी दृष्टि चन्द्रमा को अपने साथ-साथ चलता देखती है। गाड़ी के कुछ क्षण चलने से तय की गई दूरी चन्द्रमा की दूरी की अपेक्षा नाममात्र ही रहती है। अतः मीलों मील तक सीधे चलने पर भी चन्द्रमा और हमारे बीच एक समान सा कोण बने रहने के प्रतिफल ही ऐसा आभास बना रहता है कि चन्द्रमा हमारे साथ-साथ आगे ही आगे चल रहा है।

ग्रहण प्रक्रिया

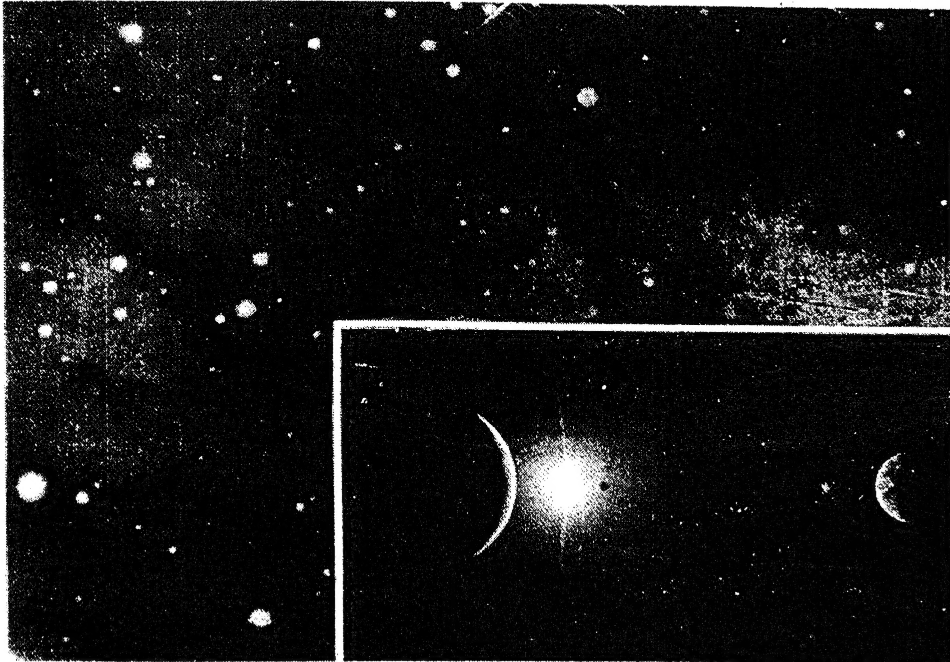
हम पृथ्वी के प्राणियों को सामान्यतया दो प्रकार के ग्रहणों का अनुभव होता है। ये हैं सूर्य-ग्रहण तथा चन्द्र-ग्रहण। प्रत्येक वर्ष कम से कम दो से पांच सूर्य-ग्रहण लगते हैं परन्तु किसी भी एक स्थान पर पूर्ण सूर्य-ग्रहण तो कोई 360 वर्षों में एक ही बार दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार जबकि कई एक वर्ष तो चन्द्र-ग्रहण लगता ही नहीं, कुछ अन्य वर्षों में एक से तीन चन्द्र-ग्रहण भी घटित हो जाते हैं। आखिर ऐसा क्यों होता है?

चन्द्र-ग्रहण तो प्रायः तभी लगता है जब चन्द्रमा अपने पूरे आकार में होता है। क्योंकि उस समय यह पृथ्वी के पीछे सूर्य की उल्टी ओर धीरे-धीरे आ रहा होता है और जब यह सम्पूर्णतया ठीक पृथ्वी के पीछे सूर्य की उल्टी ओर छिप जाता है तो यह पृथ्वी के छायाकक्ष में आकर पूरी तरह ग्रहणग्रस्त हो जाता है। इस स्थिति में संपूर्ण चन्द्रग्रहण घटित होता है। आंशिक चन्द्र-ग्रंहण तब लगता है जब चन्द्रमा आंशिक रूप से पृथ्वी के छाया-कक्ष में आता है।

सामान्य ज्ञान के अनुसार पृथ्वी सूर्य के इर्द-गिर्द चक्कर काटती है, जबकि चन्द्रमा पृथ्वी के। जब पृथ्वी सूर्य और चन्द्रमा के बीचों-बीच एक सीधी रेखा में आ जाती है तब चन्द्रग्रहण लगता है, और जब चन्द्रमा पृथ्वी और सूर्य के ठीक बीचोंबीच एक रेखा में आ जाता है तो इससे सूर्य-ग्रहण घटित होता है।

सूर्य-ग्रहण प्रायः तभी लगता है जब चन्द्रमा अपनी नवीन स्थिति में होता है क्योंकि वह उस समय पृथ्वी की उस दिशा में होता है जो सूर्य के सामने होती है। फिर ऐसा क्यों है कि चन्द्रमा की प्रत्येक नवीन दशा पर सूर्य-ग्रहण घटित नहीं होता ? इसका कारण साफ़ है कि पृथ्वी के इर्द-गिर्द चन्द्रमा का मार्ग सूर्य के समक्ष पृथ्वी के धुरी कक्ष के साथ एक सीधी रेखा में नहीं होता। पृथ्वी के इर्द-गिर्द अपनी 29½ दिवसीय यात्रा में यह कभी तो पृथ्वी के पथ से ऊपर और कभी इस पथ से नीचे से होकर ही गुजर जाता है।

फिर भी सूर्य-ग्रहण की तीन अवस्थाएं हो सकती हैं। यदि चन्द्रमा सूर्य को पूरी तरह ढक ले, तो उस समय संपूर्ण सूर्य-ग्रहण घटित होगा। चन्द्रमा तो सदैव पृथ्वी से एक सी दूरी पर ही रहता है। यह प्रायः पृथ्वी से इतनी दूर होता है कि यह सूर्य को कभी-कभी ही पूरी तरह ढकने में सफल हो सकता है। और जब कभी ऐसा होता भी है तब चन्द्रमा एक काली तश्तरी के समान सूर्य को ढक तो लेता है, फिर भी सूर्य के बाहरी किनारों पर एक हल्का-सा चूड़ी समान गोल चक्कर दिखाई देता रहता है। प्रकाश के इस पतले छल्ले को मुद्रिका की संज्ञा दी जाती है। ऐसे सूर्य-ग्रहण को छल्लेदार ग्रहण कहते हैं। सूर्य-ग्रहण की तीसरी अवस्था आंशिक ग्रहण की है जब



चन्द्रमा-रूपी तश्तरी का कुछ ही भाग सूर्य तथा पृथ्वी के बीचोंबीच आकर सूर्य के कुछ भाग को ढंक लेता है।

खगोलशास्त्री ठीक-ठीक प्रकार से ग्रहण का अनुमान लगा सकते हैं तथा इसके समय, दिन आदि के विषय में जानकारी कई वर्ष पूर्व से ही लगा लेते हैं। वे पहले से ही बता सकते हैं कि क्या यह ग्रहण पूर्ण होगा वरन् आंशिक अथवा छल्लेदार। अब यह भी जानकारी उपलब्ध है कि किसी भी एक स्थान पर पूर्ण सूर्य-ग्रहण अवस्था कोई 360 वर्षों में एक ही बार दिखाई देगी। यही कारण है कि सम्पूर्ण सूर्य-ग्रहण का दृश्य देखने हेतु खगोलशास्त्री दूर-दूर तक की भी यात्रा करने को तत्पर रहते हैं।

उदाहरणार्थ 24 अक्टूबर, 1995 दीपावली के दिन भारतवर्ष में सम्पूर्ण सूर्य-ग्रहण का एक अद्भुत दृश्य घटित हुआ जिसे संसार भर से महान खगोलशास्त्री व वैज्ञानिक देखने तथा अपने-अपने खोजी अनुसंधान कार्य सम्पन्न करने हेतु यहां पधारे। यह दृश्य तो वस्तुतः देखते ही बनता था। यह अन्तरिक्षीय चमत्कार सम्पूर्ण रूप में राजस्थान से लेकर पश्चिमी बंगाल तक कोई 40 कि॰ मी॰ चौड़ी पट्टी पर स्पष्ट दिखाई दिया तथा इस मार्ग में अन्य स्थानों के अतिरिक्त तीन प्रमुख केन्द्रों अर्थात् राजस्थान में नीम का थाना, उत्तर प्रदेश में फतेहपुर सीकरी तथा पश्चिमी बंगाल में डायमंड हार्बर से न केवल इसके सम्पूर्ण स्वरूप का आनन्द उठाया गया, वरन् अनुसंधान

हेतु भी इन केन्द्रों पर अनेक उपकर्णों का उपयोग किया गया। क्योंकि इस ग्रहण की आरम्भ से अन्तिम चरण तक की अवधि काफी लम्बी, ठीक 68 मिनट की थी, अतः न केवल इसके विभिन्न चरणों को ही समझने का पर्याप्त अवसर उपलब्ध था, वरन् अनेक प्रकार के अद्वितीय तथ्य भी उभरकर सामने आए। ग्रहणों के इतिहास में शायद पहली बार नीम का थाना जैसे प्रमुख केन्द्रों पर ही सूर्य के 'कोरोना' का 'इन्फ्रा रैड' चित्र प्राप्त किया गया तथा कई स्थानों पर 'बेलीज़ बीडज़' तथा 'डायमण्ड रिंग' स्पष्ट रूप से चित्रित हुए। वस्तुतः ये हीरे मोतियों जैसे मालाएं ऐसी प्रतीत होती थीं मानो जैसे किसी नई नवेली दुल्हन पूर्ण शृंगार कर सजी बैठी हो। इनके अतिरिक्त ग्रहण ग्रस्त होते-होते सूर्य के भिन्न-भिन्न चरणों में चित्र भी अत्यन्त सुन्दर स्वरूप में उपलब्ध किए गए।

इस विषय में कुछ तथ्यों को यहां स्पष्ट करना स्वाभाविक है। 'कोरोना' तो सूर्य का प्रभामण्डल है जो सूर्य के किनारों के साथ-साथ इसे ऐसी दीप्ति से प्रकाशित करता है जैसे किसी देव पुरुष के मुख को चारों ओर से कोई अद्वितीय प्रभा इसे अपने दीप्ति से प्रकाशित कर रही हो। सूर्य के इस प्रभामण्डल के दो विशेष भाग हैं। एक को 'K' कोरोना की संज्ञा दी जाती है जो वस्तुतः कोरोना का भीतरी किनारा होता है और लगभग 75,000 कि॰ मी॰ की ऊंचाई पर लगभग 2×10^6 K तापमान सहित प्रकाशित होता है। इसका दूसरा विशेष भाग 'F' कोरोना कहलाता है जो वस्तुतः इस प्रभा का बाहरी किनारा होता है। यह अपेक्षाकृत कुछ ठण्डा होता है तथा इसका प्रसार आकाश में कई लाख कि॰ मी॰ दूरी तक फैला रहता है। कोरोना के ये दोनों भाग मिलकर सम्पूर्ण ग्रहणग्रस्त सूर्य के चारों ओर एक ऐसा गोलाकार चक्र का किनारा प्रस्तुत करते हैं, जिसके प्रकाश का रंग अव-रक्त जैसी लाल सुर्ख सिंदूरी-सी चमक लिए अत्यन्त लुभावना होता है।

इसी प्रकार सूर्य-ग्रहण की समाप्ति से तुरन्त पहिले अथवा इसके प्रारम्भ से तुरन्त बाद चन्द्रमा की पहाड़ियों, वादियों के पीछे से सरकता हुआ सूर्य अपने इस कोरोना चक्र के एक किनारे ऐसी हीरे-मोतियों जैसी चमक प्रदर्शित करता है जैसे कि सर्वोत्तम प्रकार के हीरे-मोती किसी सुनहरी अंगूठी पर जड़े हों। इन्हीं को ही 'बेलीज़ बीड़ज़' कहा जाता है तथा हीरों की अंगूठी या डायमण्ड रिंग भी। इसको देखते ही ऐसा प्रतीत होता है कि यह तो प्रकृति का ही कोई अजूबा है जिसे देखने के लिए मनुष्य तो मनुष्य, देवता व परमात्मा भी मानो प्रतीक्षारत रहते हों। प्रकृति का यह दृश्य न केवल विस्मयपूर्ण ही है वरन् कल्पना से परे भी। इसे वस्तुतः शब्दों में व्यक्त करना उतना ही अचम्भे की बात है जितना गूंगे द्वारा गुड़ के स्वाद का आनन्द व्यक्त करना। कुछ इसी प्रकार का आनन्दमय दृश्य लगभग प्रातः 7.24 के तुरन्त बाद तथा 8.32 के तुरन्त पूर्व नीम का थाना प्रकट हुआ तथा लगभग 8 बजे सूर्य के पूर्ण ग्रहण समय सूर्य का कोरोना भी मानो प्रज्वलित हो उठा। भारत के लिए यह गौरव की बात है कि इस अभूतपूर्व दृश्य का दूरदर्शन प्रसारण विश्वव्यापी

प्रदर्शन हेतु व्यवस्थित कर संसार की अधिकांश मानव जाति को विस्मित तथा आनन्दित किया। 16 फरवरी, 1980 को भी भारत में एक पूर्ण सूर्य-ग्रहण घटित हुआ जिसके चित्र सूर्य मन्दिर कोणार्क के निकट से लिए गए, परन्तु वे चित्र इतने स्पष्ट नहीं थे जितने अब नीम का थाना व अन्य स्थानों से लिए गए।

सूर्य-ग्रहण सम्बन्धित वैज्ञानिक अनुसंधान हेतु यहां से एकत्रित सामग्री पर देश-विदेश में खोज चल रही है तथा इसके कुछ परिणाम अब उपलब्ध होने प्रारम्भ हो चुके हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य-ग्रहण के दौरान वायुमण्डल तथा पेड़-पौधों, जन-जीवों आदि पर क्या प्रभाव पड़ा, इसके कुछ दृष्टांत इस प्रकार हैं। 16 अक्टूबर, 1995 को मानो दो बार दिन चढ़ा। पहला, 6.45 पर सूर्योदय हुआ तथा केवल 39 मिनट के पश्चात् लगभग 7.24 से डूबना प्रारम्भ कर 8.32 पर पुनः उदय हुआ। सूर्य-ग्रहण की इस 68 मिनट की आंशिक व पूर्ण अवधि में अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। ऐसा आभास हुआ कि 39 मिनट के दिन के पश्चात् पुनः सायंकाल आ गया। सब पशु-पक्षी स्तब्ध व शान्त हो अपने-अपने घोंसलों को प्रस्थान कर गए, मानो कि रात पड़ रही हो। वायु में कुछ ठण्डा व हल्कापन-सा आ गया, यहां तक कि इस ग्रहण काल में वायुमण्डल का तापमान कोई 4° से॰ ग्रे॰ नीचे गिर गया। सूर्य से आने व प्रसारित होने वाला प्रकाश तथा तापमान धूमिल-सा हो गया तथा ऐसा दृश्य प्रस्तुत हुआ जैसा शायद भोर काल या फिर सांयकाल में दिन व रात के मिलन समय होता है। मीठी ठण्डी-सी सौर वायु के आवागमन का सा आनन्द छा गया तथा चन्द्रमा का सूर्य व पृथ्वी के बीचों बीच सीधी रेखा में आने से सूर्य का प्रायः पूरी तरह ढक जाना एक जादू के खेल जैसा दृश्य देखते ही बनता था। आकाश में टिमटिमाते सितारों को उस समय देखना भी अत्यन्त लुभावना प्रतीत हुआ। अतः ऐसा आभास हुआ, मानो, अपने किसी दोष के कारण सूर्य तो चन्द्रमा के पीछे अपना मुंह छिपाए शर्म से ओत-प्रोत हो रहा हो तथा इस शर्म की झलकी पेड़ों के नीचे छाया द्वारा व्यक्त कर रहा हो, क्योंकि यह छाया भी सामान्य न होकर एक अद्वितीय प्रकार की थी, जिसकी भीनी-भीनी सुगंध मनमाहेक तो थी ही, और विस्मयप्रद भी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो पृथ्वी भी किसी ऐसे अद्वितीय व अलौकिक प्रकाश में स्नान कर रही हो जिसका न कोई सम्बन्ध सूर्य से है और न ही चन्द्रमा से। ऐसा प्रतीत होता था जैसे ऋतु देवता अपने इस आश्चर्यजनक स्वरूप को देखते हुए इसकी सुन्दरता से प्रभावित होकर आनंन्दित हो रहा हो।

सम्पूर्ण सूर्य-ग्रहण की स्थिति, विशेषकर इसके कोरोना, को खुली आंख से सीधा देखना कुछ हानिकारक सिद्ध हुआ तथा इस से बचाव हेतु एक विशेष प्रकार के चश्मे के अतिरिक्त, अनेक अन्य सुझाव भी प्रसारित किए गए। पूर्ण ग्रहणग्रस्त सूर्य के कोरोना का प्रकाश आयोनोकृत होकर

कई गुना तीव्र व तीखा होकर आंखों की पुतली तक को हानि पहुंचा सकता है। उदाहरणार्थ, एक उन्नीस वर्षीय बालक ने जब सूर्य को चरमग्रहण अवस्था में खुली आंखों से देखा तो उसकी आंखे स्कोटोमा अर्थात् अन्धनेत्र नामक रोग से ग्रस्त हो गई तथा वह जो कुछ भी देखता उसके बीचोंबीच स्थायी रूप से एक काला धब्बा भी दिखाई देने लगा। इसी प्रकार एक 18 वर्षीय लड़की क ग्रहणग्रस्त सूर्य को खुली आंख द्वारा देखना ही था कि उसकी आंख की पुतली ही जल सी ग जिसके परिणामस्वरूप उसे देखी गई वस्तु का केवल धूमिल सा परिवेश ही दिखाई देता था न वि वस्तु विशेष। यह हानि न केवल स्थायी ही बन गई, वरन् इसका उपचार करना भी असम्भव-स हो गया। न ही इसे किसी प्रकार के चश्मे द्वारा ही ठीक किया जा सका।